ब्रह्मवादी और सापेक्षतावादी चिन्तनके समान आधारतलका विमर्श

[१.त्वम् अस्य परि रजसो व्योमन: स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मन: चकृषे भूमिं प्रतिमानम् ओजसो अप: स्व: परिभू: एषि आदिवम्. त्वं भुव: प्रतिमानं पृथिव्या: ऋष्ववीरस्य बृहत: पति: भू: विश्वम् आप्रा: अन्तरिक्षं महित्वा सत्यम् अद्धा नकि: अन्य: त्वावान्.

२.तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिश: साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकं ज्योतिष्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च... एतद् विचित्रं सह जीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्.

३.यथा प्रदीप्ते ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा: तथैव नाशाय विशन्ति लोका: तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा: लेलीह्यसे ग्रसमान: समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनै: ज्वलद्भि: तेजोभि: आपूर्य जगत् समग्रं भास: तव प्रतपन्ति विष्णो.][१]

(ऋक्संहि.१।४।१२-१३भाग.पुरा.१०।८।३७-३९, भग.गीता.१२।१२-१३)

[१.मनको नीचा दिखानेवाले तुम! इस अवकाशमें चारों ओर फैले रज=लोकोंको सम्हाले हुवे हो, अपने बलकी प्रतिमान भूमिके निर्माता हो, अप=अन्तरिक्ष और द्युलोक पर्यन्त फैले हुवे हो, तुम भूलोकके प्रतिमानके हो, विक्रमशीलोंके लिये दर्शनीय बृहद् लोकके रक्षक हो, पृथ्वी और द्युलोक के बीच रहे अन्तरिक्षको अपनी महिमाके सत्यसे पूरित करते हो. तुम्हारे सिवाय अन्य कौन है यहां!

२.गतिशील और स्थायी विश्व वहां दिखलायी देने लगा, आकाश दिशायें, पर्वत-द्वीप-सागरवाला भूगोल, वायु-अग्नि-चन्द्र-तारावाला ज्योतिष्चक्र... जल तेज वायु आकाश काल स्वभाव कर्म सूक्ष्म-स्थूलदेहोंके प्रभेदवाला...

३.जैसे प्रदीप्त अग्निमें खतम हो जानेको पतंगे तीव्रवेगके साथ कूदते हैं, वैसे तुम्हारे मुखोंमें सारे लोक अतिवेगके साथ प्रविष्ट हो रहे हैं]

(उपक्रम)

इन श्रुति पुराण और गीता के वचनोंपर दृष्टिपात करनेपर ब्रह्मचिन्तकको तो ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण लगता है परन्तु अब्रह्मवादियोंको सारोपा-लक्षणा वृत्ति द्वारा ब्रह्माण्डका ही निरूपण प्रतीत होगा. अतएव यूरोपमें पॅनथीस्ट बारुक स्पिनोज़ाको ईश्वरवादी नास्तिक मानते थे पर नास्तिक लोग ईश्वरव्यसनी मानते थे. इसी तरह केवलाद्वैतवादियोंको यहां 'बाधार्थसामानाधिकरण्य'न्यायेन मिथ्याभूत सृष्टिद्वैतके प्रतिषेध द्वारा आरोपाधिष्ठानभूत ब्रह्मका कैवल्य ही केवल प्रतीत होगा. आत्यन्तिकद्वैतवादी, यद्यपि सृष्टि बाधार्ह मिथ्या तो नहीं मानते, फिरभी सृष्टिके ब्रह्माश्रित उत्पत्तिस्थितिलयात्मिका होनेसे ब्रह्मकी सृष्ट्याधारता या सृष्टि-अन्तर्यामिता ही यहां लक्षित होती मानेंगे. महाप्रभु वल्लभाचार्यको, परन्तु, यहां **"यह सब कुछ भूत और भावी भी पुरुष ही है - यह सारा ऐतदात्मक है"** (ऋक्संहि.१०।९०।२, छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिवचनोंमें प्रतिपादित सृष्टि और ब्रह्म के तादात्म्यका प्रतिपादन ही मान्य लगेगा.

महाप्रभुकी ऐसी इस अवधारणाकी उपपत्ति अल्बर्ट आईन्स्टीनके सापेक्षवादके आधारपर खोजनेके प्रयासके रूपमें प्रस्तुत विमर्श नहीं है. क्योंकि इस तरहकी अश्रौत उपपत्ति खोजना तो महाप्रभुके चिन्तनका मूलोच्छेदन होगा. उनका मत तो **"अपनी बुद्धिसे वेदार्थ ऐसा होना चाहिये निर्धारित कर वेदके अर्थका विचार किया नहीं जा सकता.**

वेदान्तमें ब्रह्म जैसे समझाया गया हो वैसा मानना चाहिये'',**''श्रुतिओंके बिना ब्रह्मवाद सिद्ध नही हो पाता''** (अणुभा.१।१।१, १।३।३) है. अतः कोई भी अश्रौत उपपत्ति ब्रह्मवादकी खोजना तो उसे अनुपपन्न सिद्ध करनेमें पर्यवसित हो जायेगा. इसलिये हमारा उद्देश्य तो केवल आईन्स्टीनके सापेक्षवादी चिन्तनका वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणसे स्वरूपनिर्धारण करना ही है. महाप्रभुके चिन्तनका आधारतल जो श्रौतमीमांसा है वह अल्बर्ट आईन्स्टीनको मान्य होगा ऐसी अपेक्षा तो अतएव नितान्त बचकानी बात ही होगी. फिरभी कुछ अवधारणायें इन दोनोंके चिन्तनमें जिस समान आधारतलपर खड़ी हुयी हैं, उसे स्पष्टतया शब्दांकित कर देना हमारा लक्ष्य है.

''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः. तस्यापि द्रष्टुः ईशस्य कूटस्थस्य अखिलात्मनः सृज्यं सृजामि सृष्टो अहम् ईक्षया अभिचोदितः'' (भाग.पुरा.२।५।१४-१७) की सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभुने यह प्रतिपादित किया है कि यहां जो तत्त्व प्रतिपाद्य है वह नाना नहीं है. इन सभी रूपोंमें अनुस्यूत तत्त्व एक ही है. सभी कुछ पांच अंगोवाले होते हैं. इन पांच रूपोंमें सर्वप्रथम द्रव्य महाभूतादिका समवायी आधिभौतिक कारण माना जाता है. इसे पुराने युगका **matter**मानों या आधुनिक युगका **mass** मानों अन्तर क्या पड़ेगा? कर्म **motion or kinetic energy**जगत्के जन्ममें निमित्त कारण बनता है. द्रव्य/प्रकृतिके जिन गुणोंका परिणाम यह जगत् है, काल **time** उन गुणोंका क्षोभक होता है. एतावता फलितार्थ यही निष्पन्न होता है कि दो अणुओंको जोड़नेवाले कर्ताके बिना कालक्रमशः द्रव्यमें उत्पत्ति स्थिति या लीन होते रहनेके गुण उनकी कालिकता या कालसापेक्षता का प्रमाण है, आकस्मिक कुछ नहीं होता. आधुनिक विज्ञानमें देश और काल के इतरनिरपेक्ष द्वैत बजाय इतरेतरसापेक्ष युग्मकी अवधारणाके वश भूतसे वर्तमानमें गुजरते हुवे भविष्यकी ओर दौड़नेवाली ऋजुरेखा तो कबकी वक्रीभूत

हो कर वर्तुलाकार या चक्राकार के रूपमें मान्य हो गयी. भारतीय शास्त्रोंमें तो कालका स्वरूप आरंभसे चक्रात्मक ही **''वो मेरे अनिमिष कालचक्रके ग्रास नहीं बनते हैं''**(भाग.पुरा.३।२५।३८) स्वीकारा गया था. वस्तुस्वरूपकी आधारभूत होनेके रूपमें प्रतीयमान तथता ही परिणामहेतु बनती है. अर्थात् मेघागमन होनेपर ही वर्षा होती है अन्यथा नहीं पानीसे दही जमता दूधसे ही जमता है आदि स्वभाव या **static energy** माना जा सकता है. और अन्तमें सच्चिदानन्दकी चिदंशभूत जीवचेतना इस चतुष्टयीमें द्रष्टा-कर्ता-भोक्ता बनती है. इसे भूतलपर प्रकट हुवे कर्मोंके कारण स्वर्ग या नरक जानेवाली चेतना होनेके सीमित अर्थमें न ले कर द्रव्य काल कर्म और स्वभाव के इतरेतरसापेक्ष पर्यावरणमें प्रकट हो कर, समायोजित हो कर स्वयं तथा पर्यावरण के प्रति सभान अर्थात् द्रष्टा कर्ता भोक्ता हो पानेकी एक शक्तिके रूपमें जीवचेतनाको लेना विवक्षित है. आधुनिक विज्ञानके साथ संवादार्थ इसे एक अनिरास्य सम्भाव्यताके प्रत्ययके रूपमें लिया जा सकता है. आधुनिक विज्ञानमें जिसे 'स्पेस्' कहा जाता है उसे भारतीय शास्त्रोंने चिरकालसे द्रव्यकी ही आदिमतम अवस्था मान रखा है : **''ऐसे उस आत्मामेंसे आकाश बनता है. आकाशमेंसे वायु, वायुमेंसे अग्नि, अग्निमेंसे जल, जलमेंसे पृथिवी''** (तैत्ति.उप.२।१) अतः वह द्रव्याभावरूप नहीं. द्रव्यशून्य अवकाश स्वयं विज्ञान भी अब कहां स्वीकारता है? द्रष्टव्य : **"From the fact that space is directly united to the matter it contains, this space could not be infinite since the presence of matter would have the effect of curving it locally"** (हिलैर कुनी द्वारा उद्धृत 'अल्बर्ट आईन्स्टीन : द मॅन एंड हीज थियरी'पृ.८३). अर्थात् अवकाशके द्रव्यके साथ सीधा एकीभूत होनेके तथ्यके कारण, यह अवकाश अनन्त नहीं हो सकता. क्योंकि द्रव्यकी विद्यमानता इसमें दैशिक वक्र होनेका प्रभाव प्रकट करेगी. अन्तमें ये जिसके ये पांच रूप हैं वह ज्ञान-क्रियाशक्तिविशिष्ट अखिलात्मा स्वयं अविकृत रहते हुवे भी इन अनेकरूपोंमें सृष्ट्यर्थ प्रकट होता

है.

यह एक तत्त्वके अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी अवधारणामें द्योतित होता तादात्म्यरूप समीकरण अल्बर्ट आईन्स्टीन द्वारा भी प्रस्तुत हुवा है. उसकी तत्त्वमीमांसाके अनुसार वस्तुकी गति और स्थिति इतरनिरपेक्ष न हो कर इतरसापेक्ष होती है. द्रव्यपिण्ड और द्रव्यगत ऊर्जा परस्पर अविभाज्यतया एक हैं. दूसरे शब्दोंमें शक्ति और शक्तिमान के बीच तादात्म्य रहता है. यहां उल्लेखनीय है कि इतरसापेक्षका मतलब ही इतरेतरसत्त्वे इतरेतरसत्त्व या इतरसिद्धिसापेक्षसिद्धिकत्व होगा. अन्यथा कोई भी दो वस्तु आत्यन्तिकतया भिन्न हों तो अन्योन्याश्रय दोषका परिहार शक्य नहीं. तादात्म्यको स्वीकारनेपर तो आत्माश्रयदोषका भी परिहार हो जाता है, क्योंकि वस्तुस्वभावमें ही द्वित्व और एकत्व का सामान्याधिकरण्य होता है. अत: किन्हीं दोका इतरसिद्धिसापेक्षसिद्धिक होना उनके बीच तादात्म्यके बिना उपपन्न नहीं हो पाता. और न तादात्म्य ही इतरसिद्धिसापेक्षसिद्धिकताके बिना उपपन्न हो सकता है. सापेक्षवादके अनुसार जागतिक तत्त्वोंके नियम सभी द्रष्टाओंके लिये समान होते हैं, अत: प्रकाशकी गतिमें उसके द्रष्टाके अभिमुखतया या विमुखतया गतिशील होनेपर भी कोई घटबढ़ नहीं होती. एक अन्य अवधारणा यह भी है कि द्रव्यपिण्डका ऊर्जामें और ऊर्जाका द्रव्यपिण्डमें रूपान्तर भी सम्भव है. यों जगत्प्रसिद्ध "$E=mc^2$" समीकरण भी अन्तत: औपनिषदिक "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं**"(छान्दो.उप.६।८।७) रूप विरुद्धधर्माश्रयता रूपी तादात्म्यकी ही विधान्तरमें उद्घोषणा है. विशेषत: जर्मनीके भौतिकीके विद्वान् हैज़नबर्ग और बॉर्न की गवेषणा कि प्रकाशगुच्छ तरंगरूप (Waves) भी होता है कणरूप (particles) भी. इस उभयरूपताके कारण वैव्स् और पार्टिकल्स के स्थानपर वैवीकल्स (wavicles) का अंगीकार भी मानवीय मस्तिष्कमें इतरेतरविरुद्धतया प्रतीत होते प्रत्यय भी कहीं सामानाधिकरण हो सकते हैं. यह औपनिषदिक ब्रह्मके बारेमें वाल्लभ वेदान्तको अभिमत "**उस ब्रह्मके अनन्त मूर्त स्वरूप होते**

हैं कूटस्थ भी होता है और चलायमान भी परस्पर विरुद्ध सारे धर्मोंका आश्रय होनेके कारण युक्तिगोचर नहीं हो पाता" (त.दी.नि.१।७१) ऐसी ब्राह्मिक विरुद्धधर्माश्रयताके कितने समीप उपस्थापित कर देता है!

यह तो हुयी तत्त्वमीमांसाकी दृष्टिसे समान आधारतलकी कथा. इसे दोनोंकी ज्ञानमीमांसाके दृष्टिकोणसे भी परख लेना अपेक्षित है ही.

महाप्रभुका चिन्तन उन्हें बाह्य जगत्को मन:कल्पित मिथ्या मान लेनेकी अनुमति नहीं देता :

१."कार्य प्रत्यक्षसिद्ध और कारण श्रुतिसिद्ध होता है. इसी तरह कारणताका प्रकार भी. यहां कार्य और कारण के बीच अभेद ही बोधनीय है. अन्यथा एकविज्ञानसे सर्ववस्तुविषयक विज्ञान सिद्ध नहीं हो पायेगा, कार्यप्रकारोंके भेदोंको न ज्ञान न होनेके कारण. अत: कार्योंके विविध प्रकार कारणतत्त्वके साथ विविध व्यवहारार्थ वाणीसे विविधतया संकेतित होते हैं 'घट'-'पट' इत्यादि. इन रूपोंमें कोई भी उपादेय कार्य उपादानकारणसे पृथक् वस्तु नहीं होते. अन्यथा एकविज्ञान सर्वविज्ञान शक्य नहीं रह जायेगा. अत: रूपभेदेन कार्यकी वास्तविक सत्यता तो 'मृत्तिका' होनेके रूपमें ही है. अत: कार्योंका कारणसे अनन्य होना श्रुतिद्वारा बोधित होता है नकि मिथ्यात्व शुक्तिरजतकी तरह."

२."किसी अनुभूतिमें बाह्यार्थ प्रतीत नहीं होता अर्थात् उसके बिना ही कुछ प्रतीत होने लगता है. अत: पदार्थोंके याथात्म्यको जाननेको प्रमाणोंकी उपयोगिता है. शंका उठ

सकती है वस्तु स्वयं भी ऐसी ही क्यों नहीं हो सकती कि विद्यमान न रहनेपर भी प्रतीत होती हो? कुछ वादियोंने जगत्का मायिक होना भी तो स्वीकारा ही है. ऐसा तब माना जा सकता, यदि विचार करनेपर ऐसा उपपन्न होता तो. प्रमाणभूत वेद 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' ही कहता है. ब्रह्मविदोंकी प्रतीति भी ऐसी वर्णित है. भ्रान्तप्रतीति तो बाह्यार्थकी नियामक हो नहीं सकती. अन्यथा स्वयं भ्रमण करते व्यक्तिको भ्रमण करता दिखलायी देता बाह्य जगत् भी भ्रमण करता हुवा सिद्ध हो जायेगा. अत: बाह्य विषय (The thing as it is) और उसके साथ जुड़ी विषयता (The thing as it is concieved) के प्रभेद स्वीकारने चाहिये. जिससे उसे (स्वयंकी सामर्थ्य या असामर्थ्य के वश) देखनेवाली दृष्टिको भी अपना विषय मिल पाये... विषयता मायाद्वारा प्रकट होती है परन्तु विषय तो स्वयं भगवान्का लिया हुवा रूप है. मायाके भीतर (अर्थात् बाह्यजगत्में नहीं) भगवान् अपना विषयतारूप स्वरूप भी प्रकट करते हैं. इसे नि:स्वभाव (शून्य) नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि अपनी मायाशक्तिके वशात् धारण किया भगवान्का ऐसा भी रूप क्यों नहीं हो सकता? और फिर माया भी तो नि:स्वभाव नहीं आत्मशक्ति होनेके कारण. ये सारे खेल बुद्धिमें प्रकट होनेवाली चेतनाके हैं... ग्राह्यविषय या ग्राहकचक्षु दोनों ही नियत जड़स्वभाववाले होनेके कारण कल्पना करवाने या करने सक्षम नहीं माने जा सकते.''

(त.दी.नि.प्र.१।८३, सुबो.२।९।२२).

महाप्रभुके इस विधानको पाश्चात्य चिन्तनमें जिसे 'नाइव रियालिज़म्' अर्थात् यथादृष्टबाह्यार्थास्तित्ववाद माना है, उस अर्थमें लिया नहीं

जा सकता. और यही बात आईन्स्टीनके बारेमें भी सत्य है. इसे सन् १९४४ में लायब्रेरी ऑफ लीविंग फिलोसोफर्स् ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्रकाशित 'द फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेन्ड् रसेल' ग्रन्थमें आईन्स्टीनने रसेलकी ज्ञानमीमांसाके बारेमें अपना अभिप्राय देते हुवे जो लिखा था उसके आधारपर देख सकते हैं :

''दर्शनशास्त्रके बाल्यकालमें सामान्यतया माना जाता रहा कि केवल चिन्तनके आधारपर किसी भी तथ्यको जाना जा सकता है. वस्तुत: तो यह एक भ्रमणा थी जिसे कोई भी समझ सकता है. यदि एक दार्शनिक विचार पढ़ कर बादमें दूसरा विचार पढ़े और प्राकृतिक विज्ञान भी पढ़े तो कोई भी विस्मित नहीं होगा. प्लातो भी बौद्धिक प्रत्ययोंकी उच्चस्तरीय वास्तविकता स्वीकारता था इन्द्रियानुभूतिके विषयोंकी तुलनामें. यहां तक कि स्पिनोज़ासे ले कर हेगल तक यह पूर्वाग्रह दार्शनिक दृष्टिके लिये जीवनदायक शक्ति थी. और अब भी प्रमुख पात्र होनेका अभिनय यह पूर्वाग्रह कर रहा है. कोई प्रश्न उठा सकता है कि इस भ्रमणाके बिना दार्शनिक चिन्तनमें कोई बड़ी उपलब्धि भी सम्भव ही नहीं. हम, परन्तु, इस बारेमें कुछ भी पूछना नहीं चाहेंगे. चिन्तनशक्तिके ऐसे असीमित वेधक सामर्थ्यकी इस उच्चवर्गीय भ्रमणाका प्रतिपक्षी सर्वजनसाधारण दूसरी भ्रमणा 'नाइव रियालिज़म' है. इसके अनुसार वस्तु वही है जैसी कि हमारी इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष अनुभूत होती है. यह भ्रान्ति मनुष्य और पशुओं के व्यवहारपर अपना आधिपत्य दैनंदिन जीवनमें भी प्रकट करती है. सभी विज्ञानकी शाखाओंका परन्तु प्रस्थानबिन्दु भी यही भ्रमणा है, विशेषत: प्राकृतिक विज्ञानकी शाखाओंके लिये. इन दोनों भ्रमणाओंसे उत्तीर्ण होनेके उद्यम भी

एक-दूजेसे स्वतन्त्र नहीं हो पाते हैं. रसेलके अनुसार, परन्तु, ''नाइव रियालिज़म भौतिक विज्ञानकी ओर ले जाता है; और वह भौतिक विज्ञान यदि प्रामाणिक हो तो, नाइव रियालिज़म अप्रामाणिक सिद्ध होता है. अत: नाइव रियालिज़म अप्रामाणिक है'' इन वैदुष्यपूर्ण पंक्तियोंको पढ़नेसे पहले कभी यह बात मेरे खयालमें आयी नहीं थी.''

(रसेल्स् थियरी ऑफ नोलेज पृ.२८७).

एतावता यद्यपि यथानुभूतबाह्यार्थास्तित्ववादके बारेमें रसेलके विचारोंसे प्रभावित हुवे लगते होनेपर भी आईन्स्टीन बिशप बर्कलेके दृष्टिसृष्टिवाद, ह्यूमके संशयवाद; और इमानुएल कान्टके अज्ञेयवाद की विकसित कड़ीके रूपमें बर्ट्रेन्ड् रसेलको देखते होनेके कारण कुछ और भी विधान जो करते हैं वह अवश्य मननीय है :

''रसेलके पैने विश्लेषणको कोई कितना भी पसन्द क्यों न करता हो, उनके हालमें प्रकाशित 'मीनिंग एंड ट्रुथ' के कारण मुझे लगता है कि पराभौतिकीके प्रेतकी सी भयग्रन्थिने कुछ नुकसान अवश्य पहोंचाया है. क्योंकि इसी भीतिग्रन्थिके कारण बाह्य वस्तु या द्रव्य को गुणधर्मोंका केवल संघात मान लिया गया है. जो गुणधर्म इन्द्रियजन्य अनुभूतिके अपरिष्कृत उपादानतया ग्रहीत होते हैं. जबकि द्रव्य और गुणधर्मोंका संघात वस्तुत: तो एक ही होते हैं. क्योंकि यदि इन्द्रियग्राह्य गुणधर्मोंका संघात कहीं हो रहा है तो उन गुणधर्मोंके बीच परस्पर बाह्य भौमितिक सम्बन्धके कारण ही वह शक्य होगा. अन्यथा तो आइफिल टॉवर पेरिसमें हो या न्यूयोर्कमें कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिये था. वैसे इसके विरुद्ध इतना ही कहना चाहूंगा कि यहां बाह्यार्थ वस्तुको भौतिकीके विषयके रूपमें देखनेमें

अकारण पराभौतिक संकट खोजना आवश्यक नहीं है. एक स्वतन्त्र बौद्धिक प्रत्ययतया मान लेना चाहिये कि जो देश-कालके ढांचेमें अपने गुणधर्मोंका संघातरूप होता है''.

(वहीं पृ.२९१).

इसके प्रत्युत्तरमें रसेलने केवल लाघवतर्ककी दुहाई दी कि संघात माननेसे काम चलता हो तो अतिरिक्त द्रव्यकी कल्पना क्यों करनी? और इस विषयमें भविष्यमें कभी विस्तारसे चर्चा करनेका संकल्प भी प्रकट किया. वह किया कि नहीं उसका महत्त्व यहां उतना नहीं, जितना कि इस बातका है कि वाल्लभ वेदान्तने भी बाह्यार्थ द्रव्य और गुणधर्मो के बीच तादात्म्य पहिलेसे स्वीकार रखा है ''**जैसे प्रकाश रूपी गुणधर्मके अपने आश्रयभूत सूर्य आदिसे, पृथक् स्थित न होनेके कारण भिन्न नहीं होते हैं और प्रकाश रूपी गुणधर्म सूर्यमें समवेत और मूलाविच्छेदेन अपना आधार बना कर रहते होनेके कारण सूर्यरूप भी नहीं होते हैं, भिन्नतया प्रतीतिके वश भी. इसी तरह ब्रह्म और उसके गुणधर्मोंके बारेमें समझ लेना आवश्यक है.**'' (अणुभा.३।२।२८). पृथिवि जल तेज वायु या आकाश रूपी सारेके सारे बाह्य भौतिक द्रव्योंको भी इन्द्रियग्राह्य पञ्च तन्मात्राओंका घनीभाव माना गया है (द्रष्ट.सुबो.३।२६।३१-४६). इसके बावजूद महाप्रभु यह पृथक्करण करना चूके नहीं हैं कि सारा सविकल्पक प्रत्यक्ष बाह्यार्थकी तथताका यथार्थ चित्र ही प्रस्तुत करता हो ऐसा भी नहीं. क्योंकि वैसे तो, महाप्रभुके अनुसार, सारा सविकल्पक ज्ञान राजस होता है, फिरभी उस राजसताके अन्तर्गत अवान्तर तामसताके कारण भ्रम और अज्ञान भी बुद्धिमें प्रकट हो पाते हैं. ऐसी अवान्तर राजसताके कारण संशय भी प्रकट हो पाता है. निश्चय तो, परन्तु, बुद्धिमें अवान्तर सात्त्विकताके प्रबल होनेपर ही शक्य होता है :

१.''सत्त्वगुणकी प्रबलता होनेपर बुद्धि प्रमाण बन पाती

है, अर्थात् सत्त्वगुण प्रवृद्ध होनेपर अन्तःकरण(चित्त-बुद्धि-अहंकार-मन) प्रमिति प्रकट करते हैं... अन्यथा ये ही सामग्री भ्रम भी प्रकट करती है''.

२.''मन जैसे इन्द्रियोंको बाह्यार्थकी ओर प्रेरित करता है वैसे ही बुद्धि इन्द्रियोंके ऊपर अनुग्रहकर्त्री बनती है. बुद्धिसे अनुगृहीत इन्द्रियां ही कुछ देख या कर पाती हैं. अतएव बुद्धिकी अवस्थाओंकी तरतमताके वश इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट होता है... क्योंकि अन्यथा केवल चक्षुसे ही ज्ञान प्रकट हो जाता होता तो तारतम्य हो ही नहीं पाता... अनुभवकी यथार्थताको 'निश्चय' कहा जाता है, क्योंकि बाह्यार्थ ज्ञानका आधा अंग होता है.''

(त.दी.नि.२।१४७, सुबो.३।२६।२९-३०).

पॉल आर्थर स्किल्प द्वारा सम्पादित लिविंग लायब्रेरी ऑफ फिलोसोफर्स ग्रन्थमालामें अन्तर्गत 'अल्बर्ट आईन्स्टीन दार्शनिक-वैज्ञानिक' ग्रन्थमें महाप्रभुके विषय और विषयता के प्रभेदके जैसे ही प्रभेद सूचित करते हुवे विक्टर एफ लेन्ज़ेनने दो महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रकट किये हैं :

1.Natural science during modern era generally has presupposed dualism in theory of knowledge. Data of perception have been acknowledged to be relative to percipient events; objects have been concieved as independent of perception. In dualism a physical object is held to be an independent reality which manifests itself by initiating a chain of process that act on sensory mechanism. The resulting perception is interpreted as mediate cognition of an independent object. Einstien has remarked that this dualist conception is an application of physical ways of thinking to the problem of cognition.''(pp.363).

2.''Cognition of reality, however, originates in sensory experience, is tested by sensory experience, and shares the uncertainty of such experience. Cognition of physical reality occurs through in the media of concepts which express properties of objects in sptio-temporal environment.''(pp.384).

अर्थात् आधुनिक युगमें प्राकृतिक विज्ञानने सामान्यतया ज्ञानमीमांसामें द्वैतवादका आधारतया अवलम्बन किया है. इस द्वैतवादमें प्रत्यक्षानुभूतिकी घटक सामग्रीको प्रत्यक्षानुभूतियोग्य घटनाओंसे जुड़ा माना जाता है. विषयवस्तुको प्रत्यक्षानुभूतिसे स्वतन्त्र माना गया है. इस द्वैतवादमें भौतिक वस्तुको स्वतन्त्र माना गया है. यह भौतिक वस्तु प्रकट होती है जो ऐन्द्रियक तन्त्रको प्रभावित करनेवाली शृंखलाकी आरम्भक होती है. फलरूपेण होती प्रत्यक्षानुभूति स्वतन्त्र बाह्यार्थका व्यवहित प्रतिनिधित्व करती है. आईन्स्टीन यह सूचित करते हैं कि ज्ञानमीमांसाकी समस्याओंके भौतिक पद्धतिसे विचार की यह द्वैतवादी धारणा क्रियान्विति है. बाह्यसत्ताका ज्ञान प्रकट होता है इन्द्रियजन्य अनुभूतिद्वारा, उसकी परीक्षा भी इन्द्रियजन्य अनुभूतिद्वारा होती है. यो वह अपना भाग अनिश्चयात्मकता भी वहींसे जुटाती है. भौतिक बाह्यार्थका ज्ञान तो प्रत्ययके माध्यमसे होता है जो बाह्यार्थके गुणधर्मोंको देश-कालके जुड़मा ढांचेमें अभिव्यक्त करता है. यों देखा जा सकता है कि श्रौत चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन ब्रह्म या ब्रह्माण्ड रूपी दो विभिन्न चिन्त्यविषयोंकी प्रस्तुतिमें तत्त्वमीमांसकीय प्रत्यय और ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणा कैसे एक जैसी ले कर प्रवृत्त

हुवे हैं. यही इनका समान आधारतल है. इसके बाद सुखेन वाल्लभ मतकी दृष्टिसे अल्बर्ट आइन्स्टाईनके मतका वाल्लभ मतकी प्रमाण प्रमेय साधन फल प्रक्रियाके अनुसार स्वरूपनिर्धारण किया जा सकता है.

(प्रमाणतः स्वरूपनिर्धारण)

जैसा कि हम देख गये आईन्स्टीनने भौतिकीके प्रतिपाद्य बाह्यार्थको युक्तिग्राह्य "**grand aim of all science is to cover the greater number of empirical facts by logical deduction from smaller possible number of hypotheses or axioms**" (द्रष्ट. उद्धृत ले.लिंकन बार्नेट 'द युनिवर्स एंड डॉ. आईन्स्टीन'पृ.११२-११३) अर्थात् विज्ञानकी सभी शाखाओंका भव्य उद्देश्य यही है कि अधिकतर आनुभविक तथ्योंको न्यूनतर प्राग्धारणा अथवा स्वयंसिद्ध धारणाओंके यौक्तिक निगमनके घेरेमें लाना. अर्थात् इन्द्रियग्राह्य गुणधर्मोका केवल संघात माननेके बजाय उन गुणधर्मोके इन्द्रियग्राह्य संघातको यौक्तिक उत्प्रेक्षा यौक्तिक स्वयंसिद्ध प्रत्ययोंके निगमनगम्यतया एकीकृत करना इन्द्रियग्राह्य गुणधर्म संघात और यौक्तिक प्रत्ययार्थ द्रव्यमें यह तादात्म्यकी स्वीकृति है.

वह महाप्रभुने भी श्रुति-आदि शास्त्रोंद्वारा वैसे प्रतिपादित होनेके रूप मान्य कर रखा है. न तो श्रुतिप्रामाण्य आईन्स्टीनको और न युक्तिप्रामाण्य महाप्रभुको मान्य है. फिरभी अपने-अपने प्रमेय ब्रह्माण्ड या ब्रह्म के बोधमें फलमुखप्रमाके जनकतया नहीं परन्तु उक्त बोधमें प्रमास्वरूपयोग्यताके सम्पादकतया कुछ बातें ऐसी हैं जो इन दोनों चिन्तनोंको एक ही मध्यपाती दीवारके व्यवधानवाले दो विभिन्न द्वारोंवाले भवन जैसा स्वरूप प्रदान करती हैं.

साक्षात् प्रमाण दोनोंके पृथक् हैं फिरभी प्रमाणावलम्बनार्थ अपेक्षित स्वरूपयोग्यता या तो जैसे आंगिकोंके सम्पादित करनेपर सिद्ध होती

है वैसे ही प्रतिबन्धोंका निरास करनेपर भी. उक्तविध प्रमेयोंके बोधार्थ प्रमाणव्यापारमें दोनों ही अहंकारको प्रतिबन्धक मानते हैं. यह विचारणीय है कि कैसा अहंकार प्रतिबन्धक होता होगा ?

कुछ अहंकार शारीरिक होते हैं जैसे बलवान् या सुन्दर होनेका अहंकार. कुछ अहंकार पारिवारिक होते हैं जैसे माता-पिता या पति-पत्नी आदि होनेके अहंकार. कुछ सामाजिक भी होते हैं जैसे जनमान्य नेता या उच्च गुरुपदासीन होनेके कारण पनपते अहंकार. कुछ अहंकार धार्मिक भी हो सकते हैं जैसे परधर्मिओंको पापी मूढ़ नरकगामी पतित मान लेनेको उकसानेवाला अहंकार. कुछ अहंकार प्राणियोंके वर्गभेदके कारण भी हो सकते हैं. उदाहरणतया हालमें ही एक प्राणि-उद्यानमें कोई मनोविक्षिप्त मनुष्य बाघके पींजरेमें आत्मघातके लिये कूद पड़ा और वहांके संचालकोंने मनुष्यको अवध्य मान कर बिचारे निरपराध बाघको शूट कर दिया! ऐसे अन्य भी कतिपय अहंकारोंका यहां कोई प्रसंग नहीं है. यहां तो प्रसंग है जगत्का प्रत्येक पदार्थ जो एक-दूसरेके साथ तादात्म्यभावापन्न है उस परम सत्यको व्यक्ति अपने दर्शन धर्म या विज्ञान के द्वारा पनपाये दृष्टिभेदके वश वैयक्तिक अहंकार मुग्ध होनेके कारण स्वीकार नहीं पाता!

इस विषयमें आईन्स्टीन कहते हैं "**what separates me from most so called atheists is a feeling of utter humility toward the unattainable secrets of harmony of the cosmos.**", "**If it is one of the goals of religion to liberate mankind as far as possible from the bondage of egocentric cravings, desires, and fears, scientific reasoning can aid religion in yet anoyher sense.**" (Al.En to Josef lewis April 18.1953, essay on Science and religion) आईन्स्टीन् कहते हैं कि दूसरे जो नास्तिक हैं उनसे मैं कैसे अलग हूं? नास्तिक तो सभी युगोंमें

होते रहे हैं. रसेल् खुद एक नास्तिक चिन्तक थे. ऐसे नास्तिकोंके साथ उनका लगातार संवाद (continous dialogue) चलता रहता था. पर "feeling of utter humility" नास्तिकोंमें दैन्यभाव नहीं होता और दैन्यके बिना कॉस्मोस्की हार्मनीवाली सिक्रेट् (ब्रह्माण्डके तादात्म्यवाला रहस्य) समझमें नहीं आती है.

मुझे लगता है यहां 'एथिस्ट' पदका प्रचलित अनीश्वरवादी लेनेके बजाय प्रस्तुत सन्दर्भमें "नास्ति इति मतिः यस्य सः नास्तिकः" ईश्वर स्वर्ग धर्म आदि निषेध्यविशेषोंकी उपेक्षा करके सामान्य निषेधपरा मतिके अर्थमें थोड़ी दैरके लिये स्वीकार कर चलें तो सहज ही समझमें आनेवाली बात है अपनी अनुभूतिसे पृथक् अनुभूयमानको स्वीकारनेमें अनुभूति ही पर्याप्त होती है परन्तु अनुभूयमानको भी अस्वीकार करना हो तो दार्शनिक अहंकारको प्रबल बनाये बिना वह सुकर नहीं होता! श्रद्धाको अनेकधा आस्तिक्यबुद्धिके रूपमें स्वीकारा जाता है. महाप्रभु कहतें हैं कि **"कृष्ण सर्वात्मक हैं अतः उनके सामने हमें दैन्यभाव रखते हुवे अहंकार नहीं करना चाहिये. वह अहंकारका मनोभाव यदि स्वतःसिद्ध भी हो तो भी मनमें दैन्यकी भावना auto suggestion** तो की ही जा सकती है. कमसे कम जहां-जहां हम कृष्णका अनुभाव देख पाते हों वहां तो अंहकार करनेसे बचना चाहिये, वैसे तो सारे लोकमें ही भगवद्बुद्धि रखनी चाहिये."(त.दी.नि.प्र.२।२४१).

यह कृष्णको ब्रह्म परमात्मा भगवान् समझ कर किया गया सर्वतादात्म्यके हेतुवश भेददृष्टिके उत्तेजक अहंकारका निषेध है. यह अहंकार सहज स्वाभाविक अहंकार नहीं परन्तु 'विकृत' कहो या शरीर परिवार समाज धर्मसम्प्रदाय बुद्धिशाली प्राणीसमूह में स्वयंकी स्थितिके वशात् परिष्कृत होता अहंकार कहो एक ही कथा है. ऐसा अहंकार नवजात शिशुकी अहंसवेदनाके जैसा निर्दोष नहीं होता. उसे तो भगवान् गीतामें अपना ही रूपविशेषके होनेके रूपमें मान्य करते हैं **"भूमि**

जल अनल वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार ये मेरी अष्टविध अवर प्रकृति परा प्रकृति जीवचेतना जो इन्हें धारण करती है उसकी ही तरह"(भग.गीता.७।४-५). वस्तुतः तो ब्रह्मकी अद्वय एकरस स्वयंप्रकाशरूपताका अनेकभावापन्न एक कृत्रिम रूप हमारा अहंकार होता है जिसे उद्देश्य बना कर उपनिषदोंमें कहा गया है **"यह पहले ब्रह्म ही था और उसने अपने आपको जाना कि ब्रह्म हूं सो वह सब कुछ बन गया. इस रहस्यको जो भी देव ऋषि या मनुष्य जान पाता है कि मैं ब्रह्म हूं वह ये जो कुछ हैं सब बन जाता है"** (बृह.उप.१।४।१०). यह शुद्ध अहंकार सर्वतादात्म्यकी कहो या हार्मनीकी कहो, उसे जाननेमें प्रतिबन्धक नहीं होता. शरीर परिवार समाज आदिकी परिच्छिन्नताके परिवेशमें परिष्कृत या विकृत हो जानेवाला अहंकार परन्तु सर्वतादात्म्यभावके अनुसंन्धानमें निश्चय ही प्रतिबन्धक बनता है. एक बार स्वयं आईन्स्टीनके विरोधमें तदातन शताधिक विद्वानोंने अपने-अपने लेखोंका संकलन प्रकाशित किया था ऐसा स्टीफेन हॉकिंग 'अ ब्रीफ हिस्टॉरी ऑफ टाइम'(पृ.१८८) में वृत्तान्त देते हैं और इसपर आईन्स्टीनने बहोत रोचक उद्गार प्रकट किया कि "यदि मैं ग़लत होता तो सौ विद्वान नहीं अकेले किसी विद्वानकी आलोचना भी पर्याप्त होती!

इसमें परन्तु अपनी आस्थाके प्रति आस्तिक्यबुद्धि या श्रद्धा का अनुभाव ही प्रकट हो रहा है अहंकारपूर्ण नास्तिक्यबुद्धिका नहीं. इस ऐसे अहंकारसे बचनेकी महाप्रभु और आईन्स्टीन दोनों प्रेरणा देते हैं. यहां इस प्रमेयकी प्रमाके उद्बोधनमें अहंकारका शिथिलीकरण प्रमाणकी स्वरूपयोग्यता सम्पादित करता हुवा हम पाते हैं.

आईन्स्टीन् जो कहना चाहता वह यह कि दूसरे नास्तिकोंमें दैन्य नहीं है. ब्रह्माण्डमें जो रहस्य है उनके प्रति मुझे दैन्यका भाव है, अहंकारका भाव नहीं है."

प्रमाणमें सबसे पहला प्रमाणांग दैन्य है "Feeling of utter humility towards the unattainable secrets of harmony of the cosmos" ब्रह्माण्डका रहस्य अज्ञेय हो या दुर्ज्ञेय हो. हर नास्तिकमें इसके विरोधमें अहंकार होता है कि मैंने सब कुछ जान लिया है.

इस विषयमें एक अति सुंदर उदाहरण आपको बताउं. फ्रान्समें लुइस् १४वां था. तब विश्वकोश (encyclopedia) बन रहा था. उसमें 'गॉड्'का प्रकरण नहीं था. लुइस् १४ने पूछा कि इसमें गॉड्का chapter (प्रकरण) क्यों नहीं है? तब विश्वकोशकारने कहा कि "We know that God is not required subject in encyclpedia". वैसे विश्वकोश तो न जाने कितने निरर्थक लगते विषयोंको भी संकलित तथा ग्रन्थस्थ करता ही होता है. प्रश्न आवश्यक होने या अनावश्यक होने का नहीं. अलेकजेंड्रियाके उस महान ग्रन्थागारको भस्मसात् करनेवाले अरबसेनापति उमर खलीफाका भी कुछ ऐसा ही धार्मिक अहंकार था कि कुरानमें जो कहा गया है वो बातें इन ग्रन्थोंमे हों तो कुरानके रहते इनकी आवश्यकता क्या है? और उससे विरुद्ध हों तो भी इनकी आवश्यकता क्या है? परमेश्वरके प्रकरणको अनावश्यक माननेवाला नास्तिक्यमतिवाला वैदुष्यपूर्ण अहंकार और धर्मोन्मादके अहंकार के बीच तारतम्य प्रकट नहीं होता, अधार्मिक या धार्मिक होनेके प्रभेदके अलावा!

आईन्स्टीन् कहते हैं "मेरेमें ऐसा अहंकार नहीं है. secret unattainable है और वह यदि unattainable secret है तो मैं जान नहीं सकता" इससे अपना अहंकार विगलित होना चाहिये. आकाशमें निहारिका तारामण्डल ग्रहपिण्डों को कितनी लम्बी अवधि तक दैन्यके साथ जब हम निहारते तब हमें कभी कुछ कुछ इशारा मिल पाता है. अन्यथा उनके रहस्यको समझना संभव नहीं. वैश्विक तादात्म्यकी

अनुभूतिमें प्रतिबन्धक विकृत अहंकार पुनः उक्त तादात्म्यानुभूतिके आनुषंगिक बन पाये, ऐसे उसे स्वाभाविक स्वरूपमें प्रतिष्ठापित करनेके प्रयोजनवश महाप्रभु भी कहते हैं :

"सच्चिदानन्द ब्रह्मके आनन्दांशके तिरोधानवश प्रकट हुयी सृष्टिमें आनन्दांश पुनः कथञ्चित् प्रकाशित अर्थात् (तुलनीय : 'मेरे वाणी प्राण चक्षु श्रोत्र बल इन्द्रिय सभी कुछ ब्रह्म हैं, जिनका मैं कभी निराकरण न करूं, मैं ब्रह्मका कभी निराकरण न करूं और ब्रह्म मेरा निराकरण करे, ऐसा अनिराकरण हो पाये तो आत्मा निरत हो पाता है. तब उपनिषत्में निरूपित ब्रह्मके धर्म जीवके भीतर भी' केनोप.१) प्रकट होने लगते हैं. इस तरह भगवान् कभी सभी कुछ स्वयं बन जाते हैं, कभी पुरुषको द्वार बना कर... कभी आकाशादिका क्रमिक निर्माण कर उनमें प्रविष्ट हो कर जड़ जीव अन्तर्यामी के अनेकविध रूपोंको धारण करते हैं. अचिन्त्य अनन्त शक्ति होनेके कारण वे क्या नहीं कर सकते हैं! यही कारण है कि श्रुतिओंमें एक नहीं प्रत्युत अनेक प्रकार सृष्टिके प्राकट्यके वर्णित हैं. ऐसे सारे निरूपणोंका प्रयोजन कथञ्चित् उसके माहात्म्यका निरूपण करना है... वेदोंमें भगवन्माहात्म्य प्रतिपादन करनेका प्रयोजन ब्रह्मका माहात्म्य समझा कर बादमें उसके साथ 'तत् त्वम् असि' ऐसे उपदेश द्वारा उस ब्रह्मके साथ हमारा तादात्म्य/अभेद समझाना है. ताकि हम भक्ति कर पायें. क्योंकि भक्तिके दो अंश होते हैं एक माहात्यका ज्ञान और दूसरा स्नेह."

(त.दी.नि.प्र.३६-४२).

ब्रह्मका यह माहात्म्य है कि वह सर्वरूप धारण करनेके बाद

सर्वातीत भी रहता है **''यह सभी कुछ वह पुरुष है, चाहे भूतकालीन हो चाहे भविष्यत्कालीन. वह ऐसे अमृतत्वका ईश है कि अन्नके रूपमें खाये जानेपर भी खतम नहीं होता. यह तो सब उसकी महिमा या माहात्म्य है. वह स्वयं तो इससे कहीं अधिक है''**(ऋक्संहि.१०।९०।२) स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे माहात्म्यके निरूपणके साथ उसके साथ तादात्म्यका भी यहां निरूपण है. जो सहज स्वस्थ अहंकारका असहिष्णु नहीं है; और, यह हृदयारूढ़ हो पाये तो अस्वस्थ विकृत अहंकारका कोई औचित्य भी टिक नहीं पाता.

आईन्स्टीन्का भी जगत्प्रसिद्ध उद्गार **"science without religion is lame, religion without science is blind, what is required is scientific religion and not lame and blind"(Einstien's essay on Science and religion)** विज्ञानके बिना धर्म अन्धा है और धर्मके बिना विज्ञान पंगु है. इसके अनुरूप महाप्रभुके उल्लिखित वचनोंको ढालना हो तो कहा जा सकता है ब्रह्मके सर्वतादात्म्यभावापन्न होनेपर सर्वातीत होनेके माहात्म्यको जाने बिना भगवत्स्नेह अन्धवत् हो जायेगा और भगवत्स्नेहविहीन ब्रह्मका माहात्म्यज्ञान पंगुवत् होता है. **'religion'**पद लेटिन **'re legare'** पुनः बंध जानेके अर्थमें प्रयुक्त होता है. और **'science'** अनुभवजन्य ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त होता है. द्वैतवादी आस्था मनुष्यको धर्मसाधनाकी प्रेरणा दे कर उस ईश्वरके साथ उसे इस लोकमें बांधना चाहती हैं जो सृष्टिका कर्ता नियन्ता कर्मफलदाता आदि अलौकिक गुणधर्मोंसे युक्त है. महाप्रभुके मतमें परन्तु धर्मतया विहित सभी साधना सच्चिदानन्द ब्रह्मके तीन आयामोंमें से सत्वाले आयामके साथ कर्मसाधनाद्वारा पुनः जुड़ा जा सकता है. चित्वाले आयामके साथ ज्ञानसाधनाद्वारा पुनः जुड़ा जा सकता है. और आनन्दवाले आयामके साथ भक्तिसाधनाद्वारा जुड़ा जा सकता है. एतदर्थ शरणागति उसके माहात्म्यकी अनुभूतिका उद्यम है और समर्पण उसके सर्वतादात्म्यको अनुभूत कर पानेकी दीक्षा है. और उसका नाम 'ब्रह्मसम्बन्ध' है.

इतना ही नहीं अपितु उसके उपदेशके उपक्रममें ही पहले समुद्रतरंगन्यायेन अव्युच्चरित अंशांशिभाव निरूपित किया गया है, जो बादमें अग्निविस्फुलिंगन्यायेन व्युच्चरणपूर्वक अंशांशिभाव बन जाता है. इसके कारण आपसी तादात्म्यकी विस्मृति और अहंकारकी विकृति जो प्रकट होती है उसे याद दिलानेका वह उपदेश है. यह 'रि-लिगारे' नहीं तो और क्या है? अनुभवविहीन पुनः भगवान्के साथ बंधनेकी प्रक्रियाको आईन्स्टीन जो अन्धप्रक्रिया मान रहें, वह उनके सापेक्षवादद्वारा प्रस्थापित सर्वतादात्म्यवादी दृष्टिसे मण्डित हो तो अन्धी नहीं रह जाती. और यह अनुभवजन्य ज्ञान रूपी विज्ञान भी जगद्विनाशक बन कर जगत्की सारी उर्वरा शक्तिओंके केवल उपभोगार्थ शोषणरूप विज्ञान हो तो ऐसे विज्ञानको पंगु ही मानना पड़ेगा. अतः धर्माग्रही या धर्मपक्षपाती कदाचित् इस विधानको ''धर्मविहीन विज्ञान अंधा होता है और विज्ञानविहीन धर्म पंगु'' ऐसे भी प्रस्तुत करना चाहें! दोनोंमेंसे किसी भी एक स्थितिमें ब्रह्म या ब्रह्माण्ड का माहात्म्यज्ञान और उसमें प्रकट हुयी विविधताओंमें इतरेतरतादात्म्यको तो कदापि विस्मरणीय नहीं बनाना चाहिये.

(प्रमेयतः स्वरूपनिर्धारण)

श्रुतिओंके संहिताभागमें 'ब्रह्म'पदके अलावा भी जिन अन्यान्य पदोंसे परमतत्त्वको निर्दिष्ट किया गया, उनमें स्रष्टा और सृष्टि के बीच रहे तादात्म्यभावके उद्बोधनार्थ, 'पुरुष'पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है. क्योंकि यह पांचभौतिक शरीरमें अवस्थित जीवात्मा और समग्र ब्रह्माण्डमें अवस्थित परमात्मा दोनोंका वाचक होनेकी अर्थवत्ता निभा पाता है.

जहां भी एकाधिक अर्थोंका वाहक वाणीमें ऐसा कोई एक पद स्फुटित होता है, या इन्द्रियसंवेद्य एकाधिक अर्थोंके अवधारणार्थ-प्रत्यायनार्थ बुद्धिमें ऐसा कोई एक प्रत्यय प्रस्फुटित होता है, वहां अर्थोंके बीच रही विविधता या अनेकता की उपेक्षा करनी ही पड़ती है. किसी

व्यक्तिके साथ वार्तालाप करते समय मुखके भावोंको देखा जाता है, पर कानोंपर ध्यान देना आवश्यक नहीं. एतावता उसके मुखके दोनों ओर कान नहीं है, ऐसा तो सोचा नहीं जा सकता! उपेक्षाका यह भाव ही, परन्तु, कभी-कभी संज्ञान और संख्यान में रहे एकत्वके दुराग्रहवश संज्ञेय और संख्येय में रही अनेकताके भी प्रत्याख्यान करनेकी वैचारिक रुग्णतामें विकृत हो जाता है. प्रतिक्रियारूपेण कभी अनेकत्ववादी भी एकत्वके ही प्रत्याख्यानमें कटिबद्ध हो जाते हैं. इस अबौद्धिक कलहात्मक उपद्रवकी रणभूमि एकमात्र मानवीय मष्तिष्क है, विशेषत: धार्मिक दार्शनिक और वैज्ञानिक मानवोंका!

प्रचलित धारणाके अनुसार हमारे शरीरमें बाह्य पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और चित्ताहंकारबुद्धिमनोरूप चतुर्ग्रन्थी अन्त:करण होता है. इनमें ज्ञानेन्द्रियोंके प्रमेयरूपेण हमने रूपरसगन्धादि तन्मात्रायें मान्य की हैं. इसी तरह कर्मेन्द्रियोंसे सम्पाद्य गमनादानादि पांच कार्य मान लिये. वैसे कौन नहीं जानता कि हमारे शरीरके भीतर भुक्तान्नपाचन रक्तसंचालन श्वासग्रहणादि की आन्तरिक क्रिया और संवेदना के उत्तरदायित्वका निर्वाह करनेवाली कितनी सारी आन्तरिक ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी हैं ही. और उनके कितने सारे विषय और व्यापार भी शरीरके भीतर सतत चलते रहते हैं! ऐसे इस मतिमान प्राणीकी मतिमें कभी अभिमत तो कभी अनभिमत, स्वयं उस प्राणीके भीतर क्रियान्वित होते व्यापारों और संवेदनाओं के साथ जुड़े विषयों के विमर्शमें निरत मानवमतिने ज्ञान-विज्ञानकी अनेक शाखा-प्रशाखायें विकसित की हैं. इनके गवेषणीय एवं प्रतिपाद्य विषय परन्तु प्राय: परिच्छिन्न ही होते हैं. मानवीय ज्ञानकी तीन विधा, नामश:, धर्म दर्शन और ब्रह्माण्डविज्ञान के विषय अपरिच्छिन्न होते हैं. इस कारण ज्ञानकी इन विधाओंमें द्वैत या अद्वैत का विवाद अधिक विकराल बन गया. यों ब्रह्माद्वैतके पक्षधर ब्रह्माण्डकी विविधताको कभी झुठलाना चाहते हैं, तो ब्रह्माण्डकी विविधताके पक्षधर स्वयं ब्रह्मको ही.

महाप्रभु और आईन्स्टीन इस अतिरेकके पक्षपाती न होनेके कारण दोनोंके बीच रहे द्वैतका अंगीकार करनेपर भी दोनोंके बीच किसी तरहका अभेद अर्थात् तादात्म्यको भी अंगीकार करनेकी प्रेरणा प्रदान करनेवाले चिन्तक हैं. प्रमेयको इस तरह निहारनेपर इन दोनोंके चिन्तनका समान आधारतल सुखेन दृष्टिगत हो पाता है.

महाप्रभुके **"प्रमेय तो केवल एक हरि हैं जो सगुण भी हैं और निर्गुण भी. अपने गुण कार्य धर्म क्रिया उत्पत्ति आदि अनेक रूपोंमें वही प्रकट होते हैं. जैसे शब्द ही प्रमाण है, विशेषत: वेदादिरूप, ऐसे हरि ही प्रमेय है सर्वभावापन्न"** (त.दी.नि.प्र.२।८४). इस विधानकी तरह ही जोसेफ लुइसको १८ अप्रैल १९५३ में लिखे पत्रमें आईन्स्टीनने भी स्वीकार किया है कि **"ब्रह्माण्डव्यापी संवादिताके अलभ्य रहस्योंके प्रति अपने हृदयके अतिशय विनीत भावोंके कारण अधिकांश तथाकथित नास्तिकोंसे मैं अलग-थलग पड़ जाता हूं"** आईन्स्टीनके इस विधानका महाप्रभुके विचारसे संवाद खोजना हो तो यह विधान अवलोकनीय है :

> **"बहुधा भगवान्के माहात्म्यज्ञान पानेमें निरत और उसकी थोड़ी-बहोत झलक पाते ही भक्तिकी प्रार्थना करनेवाले लोग भी भगवान्की मायासे मोहित हो जाते हैं. वे अपने भगवन्माहात्म्यके पल्लवग्राही पाण्डित्यसे दूसरोंको मोहित करने जा रहे होते हैं, तभी स्वयं भी मोहित हो जाते हैं. कोई भी पथिक अपनी यात्राके सारेके सारे पथको कुछ अधिक दूरी जानेपर देख या निरूपण नहीं कर पाता है... ऐसी स्थितिमें प्रतिक्षण नूतन असंख्य ब्रह्माण्डोंके निर्माणपथपर यात्रामें निरत ब्रह्मके... रहस्यको इदमित्थं कौन जान सकता है! अनन्त ब्रह्माण्डोंमें से किसी एक गूलर जैसे ब्रह्माण्डमें पनपनेवाले मशकोंके**

जैसे हम अपनी स्वयंकी भी गति जान न पाते हों तो, उसकी गति कैसे जान पायेंगे?

(सुबो.३।६।३९).

अतएव आईन्स्टीन भी कहते हैं कि **"मेरी सीमित मानवमति और इस ब्रह्माण्डव्यापी संवादिताको दृष्टिगत करनेपर मैं यह तो मान लेने उद्यत हूं कि अब भी कुछ लोग ईश्वरके अस्तित्वको नकारते हैं. मुझे, परन्तु, एक बात क्रोधजनक लगती कि वे लोग खुदकी मान्यताओंके समर्थनमें मुझे क्यों उद्धृत करते हैं"** (प्रिन्स्टन युनिवर्सिटी प्रेसद्वारा प्रकाशित आईन्स्टीनके उद्धरण पृ.२१४). एतावता आईन्स्टीन ब्रह्माण्डव्यापिनी संवादिताको ब्रह्माभिव्यक्ति माननेमें पीछेहट करेंगे ऐसा सोचा नहीं जा सकता.

बर्ट्रेन्ड् रसेल्से भी पहले फिलोसोफर्समें जो मुझे सबसे अच्छा लगता है वो है बारुक स्पिनोज़ा. भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र भागवत आदिपर अवलम्बित महाप्रभुके दार्शनिक मतमें अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम का प्रभेद निश्चित ही प्राणोपम है. फिरभी इस एक तथ्यको थोड़ी देरके लिये भुला कर केवल अक्षरब्रह्ममूलक ब्रह्मवादकी उत्प्रेक्षा की जाये तो बारुक स्पिनोज़ाका दर्शन महाप्रभुके मतका निकटतम पड़ौसी मत है. वैसे न वह हमारे मतको जानता था और न वो समकालीन ही था. फिरभी महाप्रभुको पढ़ें तो स्पिनोज़ा समझमें आता है और स्पिनोज़ाको पढ़े तो महाप्रभु भी भलीभांति समझमें आ पातें हैं. वैसे 'बारुक'का अर्थ भी कृपापात्र होता है और महाप्रभु जीवात्माके साधनानुष्ठानोंको भगवत्कृपाके अवान्तरव्यापाररूपेण देखनेके आग्रही हैं. आईन्स्टीन भी कुछ ऐसी ही धारणा प्रकट करते हैं. जब नाज़ीज़मसे त्रस्त हो कर अमेरीका गये तब अमेरिकनोंकी धारणा थी कि आईन्स्टीन नास्तिक हैं. इसलिये सभी लोग आईन्स्टीन्को 'गॉड्'के बारेमें प्रश्न पूछ-पूछके कॉर्नर् करना चाहते थे. उनके प्रश्नोंके उत्तरमें आईन्स्टीन

क्या कहते हैं वह देखने लायक है :

"I belive in spinoza's God, who reveals Himself in the orderly harmony of of what exists, not in a God who concerns himself with fates and actions of Human beings" (पूर्वोद्धृत 'आईन्स्टीन दार्शनिक-वैज्ञानिक' पृ.६५९). आईन्स्टीन गॉड्के अस्तित्वको स्वीकारते हैं किन्तु इस खुलासेके साथ कि "हां मैं स्वीकारता हूं पर स्पिनोज़ाने जैसे परमेश्वरका प्रतिपादन किया है वैसे परमेश्वरको" अपनी ऐसी अवधारणाकी उपपत्ति देते भी हैं कि ऐसा परमेश्वर जो स्वयंको दृश्यमान सत्ताकी सुसंवादितामें प्रकट करता हो. ऐसे परमेश्वरमें उनकी आस्था नहीं है जो (दिन-रात कहीं ऊपर बैठे-बैठे) मनुष्यके कृत्य और उसकी नियति के जमाखर्चका हिसाब लगता रहता हो!

यह संवादिता यदि न हो तो विज्ञानके सिद्धान्त गढ़े नहीं जा सकते. जैसे 'लॉ ऑफ् ग्रेविटेशन्' हमें कैसे पता चला? क्योंकि संवादिता है. कैसी संवादिता? छोटे-बड़े कदकी कमोबेश वज़नवाली वस्तु, यदि हवाका प्रतिबंध न हो, तो एक उंचाईसे फेंकी जानेपर एक ही समयपर संवादिताके साथ जमीनपे गिरती हैं. अत: गिरनेका कारण न तो कद हो सकता है और न वज़न. यों भूमिपर गिरनेवाली वस्तुओंके गिरनेमें रही संवादिताके कारण गुरुत्वाकर्षण शक्तिका प्रमाण मिल पाता है और 'लॉ ऑफ् ग्रेविटेशन्' स्थापित होता है. आईन्स्टीनकी गॉड्के बारेमें ये धारणा स्पष्ट है कि जो लॉ ऑफ् हार्मोनिमें अपने आपको रिवील् (प्रकट) करता हो. वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणसे यहां कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है कि Orderly harmony is not equal to God but God is equal to orderly harmony.

Godhood is neither result of orderly harmony nor God can be confined to it. But *"in orderly harmony God reveals Himself"*. इस बातको आगे बढ़ानेको यह भी कहते हैं कि मनुष्यके कर्मोमें रही क्षुद्र ऑर्डरलिनेस या डिज़ोर्डर् का लेखा-जोखा रखनेवाला परमेश्वर उन्हें विश्वसार्ह नहीं लगता. बर्ट्रेन्ड रसेल भी कहते हैं कि मुझे उस भगवान्में विश्वास नहीं है जो बाथरुमके की-होल्मेंसे पीपिंग टॉम्की तरह ताक-झांक करता हो कि आदमी कहीं विवसन तो स्नान नहीं कर रहा! (ईसाईओंमें तब बाथरूममें कपड़े उतार कर स्नान करना भी सर्वदर्शी भगवान्की अवहेलना मानी जाती थी!).

अर्थात् कोई चर्चमें गया कि नहीं, किसीने नमाज़ पढ़ी कि नहीं. अपने सम्प्रदायमें भी हम गुसांई लोग भगवानकी विविध झांकीकी घोषणा करके वैष्णवोंसे धनराशी ऐंठनेका दुराग्रह रखते हैं. वह भी इस हद तक कि धमकानेसे भी बाज नहीं आते "झांकीमें मनोरथी बन कर भेंट नहीं धरोगे तो सारी सम्पदा हॉस्पीटलमें इलाज करवानेमें नष्ट हो जायेगी". अब ऐसे भगवानमें तो महाप्रभु भी अपना अविश्वास ही प्रकट करना चाहेंगे. एक सामान्य म्युनिसिपल् कमिश्नर् भी उनके अधीन कार्यक्षेत्रके सभी नागरिकोंकी हर बातमें पीपिंग टॉम् नहीं बनता हो तो, जो ब्रह्माण्डका नियन्ता है वो एक-एक आदमी क्या-क्या करता है, उस बातकी चिन्ता करने लगे तो ऐसा भगवान् तो मुझे भी स्वीकार्य नहीं है. अतएव सूरदासजीके **"हों पतितनको टीको मौ सम कौन कुटिल खल कामी"** सुन कर उबताके महाप्रभुने कहा सूर् स्वैके काहे घिघियात हे? कछु भगवल्लीला गा! पूरी भागवत पढ़के देख लो. नन्द-यशोदाजीने कभी भी मठड़ी भोग नहीं धरी थी. उस ज़मानेमें मठड़ी थी ही नहीं. भगवान् हमारे जैसे मठड़ीके व्यसनी नहीं थे. तदर्थ यदि कोई चन्दा न देता हो तो भगवदपराध कैसे माना जा सकता? अतएव आईन्स्टीन भी कहते हैं :

1."I cannot imagine a God who rewards and

punishes objects of his creation, whose purpose are modeled after our own—a God, in short who is but a reflection of human frailty."

2."The further the spiritual evolution of mankind advances, the more certain it seems to me that the path to genuine religiosity does not lie through the fear of life, nor the fear of death and blind faith, but through striving after rational knowledge."

(Seldes George 'The Great Thoughts' New York:Ballantine Book p.134, 'To Believe Or Not To Believe' p.40).

आईन्स्टीन कहते हैं स्वयंसृष्ट जीवात्माके कर्मफलदाता परमेश्वरमें मेरी आस्था नहीं है. ऐसा भगवान तो मानवीय दुर्बलताका प्रतिबिम्ब है. आध्यात्मिक विकासके साथ लगता है कि सच्ची धार्मिकता जीवन-मृत्युकी भीतिमूलक या अन्धश्रद्धामूलक नहीं प्रत्युत विवेकमूलक हो जायेगी.

तैत्तिरीयोपनिषद्में आता है **"जब यह उस अदृश्य अनात्म्य अनिरुक्त अनिलयन में भयरहिततया प्रतिष्ठित हो पाता है तो वह सर्वतः अभयपद प्राप्त कर लेता है"** (तैत्ति.उप.२।७). भगवान कृष्ण भी गीतामें ऐसा ही कुछ कहते हैं **"न तो मैं (साक्षात्) किसीको कर्मकर्ता बनाता हूं और न लोकमें कर्म करवाता भी हूं. अच्छे-बुरे कर्मोंके फल भी मैं नही देता हूं. यह तो सब कुछ स्वभावके कारण चलता रहता है. न मैं किसीके पुण्य अथवा पाप को स्वीकारता हूं..."**,**"मेरी अध्यक्षताके कारण प्रकृतिसे सारा चराचर जगत् प्रकट होता रहता है... किन्तु राक्षसी और आसुरी मोहक स्वभावके वश लोग व्यर्थके ज्ञान आशा और कर्मोमें रचेपचे रहते हैं. दैवी स्वभावके महात्मा तो मुझे समग्र भूतसृष्टिका आदि मान कर अनन्यमनसे मेरा**

भजन ही करते हैं... वैसे तो मैं सभीके लिये समान हूं कोई मुझे न प्रिय लगता है न द्वेष्य ही, फिरभी जो मेरा भक्तिभावके साथ भजन करते हैं, वे तो मेरेमें ही उत्पन्न स्थित-बद्ध और मुक्त हो रहे हैं ऐसा उन्हें निश्चय हो जाता है और उनकी हर अवस्थामें मैं ही उनके भीतर सब कुछ हो रहा होता हूं'' (भग.गीता.५।१२-१३, ९।१०-२९).

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सारा जगत् और इसमें प्रकट हुयी अहंकारोपेत जीवचेतना और सर्वतोदिक् विद्यमान अनुभूयमान सत्ता सभी कुछ इतरेतरतादात्म्यभावापन्न है. ब्राह्मिक चेतनामें यह स्फुट होनेपर भी परिच्छिन्न आहंकारिक चेतनामें प्रतिबिम्बित हो नहीं पाता. परिणामतया उसमें प्रकट होते मोघ ज्ञान आशा और कर्म भी क्षुद्रतासे ग्रस्त हो जाते हैं. यह मोघता तो केवल हमारी परिच्छिन्नताका ही परिप्रेक्ष्य है. नाट्यमंचपर किसी व्यक्तिके राम या रावण होनेके प्रभेदके जैसा. परदेके पीछे न तो राम नायक है और न रावण खलनायक ही.

आईन्स्टीनके दृष्टिकोण और वाल्लभ दृष्टिकोण में कुछ जो वैषम्य यहां प्रकट हो रहा है, वह पुरुषविध साकारब्रह्म और अपुरुषविध विभुब्रह्म रूपी द्विविध ब्रह्मके अनंगीकार या अंगीकार के कारण ही वह केवल है. महाप्रभु, अतएव, ब्रह्मावबोधके तीन-चार स्तरोंका प्रतिपादन करते हैं : १.उक्त आहंकारिक क्षुद्रमतिके प्राथमिक कक्षाका ब्रह्मबोध जो ब्रह्मतादात्म्यके अंगभूतभेदको प्रधान बना कर घटित होता है : ''इदं विश्वं भगवान् इतर:''. २.सच्चिदानन्द ब्रह्मके आनन्दांशके तिरोधानवश अवशिष्ट सत्ता और चेतना रूपी दो अंशोंको ले कर विश्व और ब्रह्म के बीच सादृश्यबोध होता है : ''इदं विश्वं भगवानिव.'' यह भी अन्तर्निहित तादात्म्यसे निर्वाह्य है. ३.ब्रह्मोपादानकतया विश्वकी ब्रह्मात्मकका बोध : ''ब्रह्म=विश्व'' अर्थात् ''इदं हि विश्वं भगवान्''.

ऐसे ज्ञानाकारके साथ होता सखण्डब्रह्माद्वैतका बोध है. यहां उद्देश्यतया विश्व भासित होता है और विधेयतया उसकी ब्रह्मात्मकता भी. यह लीलात्मक खण्डविशिष्ट ब्रह्मके स्वरूपका बोध है. उद्देश्यतया या विधेयतया ब्रह्मसे अतिरिक्त ब्रह्मके नामरूपकर्मोंकी लीलाका बोध भी न रहे ऐसे अखण्ड ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्पक बोध, ज्ञानसमाधि ध्यानसमाधि या भावसमाधि की अवस्थाओंमें होता, बोध है ''ब्रह्म=ब्रह्म'' यह चतुर्थ स्तर है(द्रष्ट.सुबो.१।५।२०).

प्रश्न उठ सकता है कि आईन्स्टीनको यह कितना मान्य होगा? एतदर्थ किसी विवेचनामें छलांग लगानेसे पहले विभूतिरूप क्रान्तिकारी वैज्ञानिक आईन्स्टीन वैज्ञानिक अहंकारसे कितने निर्लिप्त थे यह समझना हो तो अधोनिर्दिष्ट विधान पर्याप्त होगा :

> **"The more a man is imbued with the ordered regularity of all events the firmer becomes his conviction that that there is no room left by the side of the ordered regularity for causes of different nature. For him neither the rule of human nor the rule of divine will exists as an independent cause of natural events. To be sure, the doctrine of a personal God interfering with natural events could never be refuted, in real sense, by science, for this doctrine can always take refuge in those domains in which scientific knowledge has not yet been able to set foot. But I am persuaded that such behavior on the part of representatives of religion would not only be unworthy but also fatal. For a doctrine which is not able to maintain itself not in clear**

light but only in the dark, will of necessity lose it's effect on mankind, with incalculable harm to human progress. If it is one of goals of religion to liberate mankind as far as possible from the bondage of egocentric cravings, desires, and fears, scientific reasoning can aid religion in yet another sense".

(Quoted from 'Science and Religion'by Hilair cuny in 'Albert Einstien:The man His Theory p.148).

अर्थात् प्रत्येक घटनाकी नियतक्रमिकताके रंगसे जैसे-जैसे हमारा बोध रंजित होता जायेगा, वैसे-वैसे हमारी आस्था परिपक्व होती चली जायेगी कि यहां नियतक्रमिकताके अलावा दूसरा कोई भी मानवीय या दैवी कारणकलाप जगत्में मान्य नहीं हो सकता है. पुरुषविध परमेश्वरके द्वारा प्रकृतिके नियमोंमें हस्तक्षेपका मत, फिरभी अभी तक जहां वैज्ञानिक ज्ञानकी पहोंच ही न हो, उसकी दुहाई तो दे ही सकता है. धर्मसम्प्रदायोंके प्रतिनिधियोंका, परन्तु, ऐसा व्यवहार न केवल अनुचित होगा परन्तु घातक भी हो सकता है (अब्रह्मवादी ईश्वरास्थाका इतिहास इस आशंकाकी गंभीरताकी गवाही देता ही है.प्रस्तुत लेखक) क्योंकि जो सिद्धान्त स्वयंको सुस्पष्ट प्रकाशमें निभा न पाता हो और अन्धकारका लाभ लेना चाहता हो, वह मानवसमुदायपर कल्पनातीत दुष्प्रभाव छोड़ेगा ही. धर्मका प्रयोजन मानवसमुदायको यावत् शक्य अहंकेन्द्रित वासना अभिलाषा और भय के बन्धनसे से मुक्त करना हो तो वैज्ञानिक युक्ति धर्मको अपेक्षित सहयोग प्रदान कर पायेगी(यथापूर्वोक्त पृ.१४८).

एतावता पुरुषविध परमेश्वरके काल-कर्म-स्वभाव-द्रव्य और चेतनासे

परे होनेकी धारणाने अब्राह्मिक सामी परम्परामें ही नहीं परन्तु अपने पुष्टिमार्गमें भी क्षराक्षरातीत लोकवेदातीत कालकर्मातीत पुरुषोत्तमकी कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यके बहानेसे अनेकविध छलनात्मक प्रपञ्चोंकी विकृतिओं, जिनका महाप्रभुको दुःस्वप्न भी न आया होगा, उनसे इस मार्गको ग्रस लिया है. इसे इन्कारा तो नहीं जा सकता. अतएव आईन्स्टीन धर्मकी आदिम मध्य और विकसित तीन अवस्थाका निरूपण करते हैं : प्रथम, अत्यन्त आदिम अवस्था जहां भगवानको मानवरूपेण ही केवल स्वीकारा गया हो. द्वितीय, सामाजिक जीवनमें जहां उच्चतर स्तरपर नैतिकताकी प्रमुखता हो. तृतीय, जहां धर्म ब्रह्माण्डानुरूप भावनाओंसे ओतप्रोत हो. (द्रष्ट.वर्जिल जी हिनशॉ जूनियरलिखित आलेख 'आईन्स्टीनका सामाजिक दर्शन पृ.६६१'अल्बर्ट आईन्स्टीन:दार्शनिक-वैज्ञानिक'में).

अन्तमें महाप्रभुके 'दर्शनके दर्शन'को व्याख्यायित करनेवाले विधान **"सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद्"** (त.दी.नि.१।७०) के साथ सुसंवाद प्रकट करनेवाला आईन्स्टीनका भी एक विधान, जो उनके मतके बारेमें अनेक विद्वानोंने अभिप्राय प्रकट किये उसके स्पष्टीकरणके रूपमें दिया है, उसे उद्धृत कर साधनदृष्ट्या और फलदृष्ट्या विमर्शकी अग्रसर होना है. तथाहि :

"The scientist, however, can not afford to carry his striving for epistemological systematic that far. He accepts gratefully the epistemological conceptual analysis; but the external conditions, which are set for him by the facts of experience, do not permit him to let himself be too much restricted in the construction of his conceptual world by the adherence to an epistemological system. He therefore must appear to the

systematic epistemologist as a type of unscruplous opportunist; he appears as *realist* insofar as he seeks to describe a world independent of the acts of perception; as *idealist* insofar as he looks upon the concepts and theories as the free inventions of the human spirit (not logically derivable from what is empirically given); as *positivist* insofar as he considers his concepts and theories justified only to the extent to which they furnish a logical representation of relation among sensory experiences. He may even appear as *Platonist* or *Pythagorian* insofar as he considers the viewpoint of logical simplicity as an indespensable and effective tool of his research."

(ibd.Reply to Criticism p.685).

हम देख सकते हैं इस विधानमें आईन्स्टीन अपने वैज्ञानिक प्रमेयके स्वरूपनिर्धारणमें दार्शनिक ज्ञानमीमांसकीय किसी भी एक वादकी सीमामें बंध कर नहीं प्रत्युत प्रमेयके स्वरूपके अनुरोधवश कभी यथार्थवाद, तो कभी कल्पनावाद, तो कभी तार्किकभाववाद, तो कभी प्लेटोनिक, तो कभी पाइथगोरिअन यों अनेक वादोंका अनुरोध एक अविवेकी अवसरवादीकी तरह अंगीकार कर अपने प्रमेयको इन सारे वादोंसे अतीत भी मान कर चलनेकी प्रेरणा दे रहे हैं.

महाप्रभुके मतमें भी जहां अनुभूतिका बाह्यार्थसंवाद निर्धारित करना शक्य हो वहां प्रमाको **"जैसा बाह्यार्थ वैसा अनुभव होता हो तो निश्ययात्मक होता है"** (सुबो.३।२६।३०) परिभाषित कर परत:प्रामाण्यवाद अर्धजरतीयन्यायेन स्वीकारा गया है. जहां बाह्यार्थसंवाद

निर्धारित कर पाना शक्य न हो वहां **"केवल शब्द ही प्रमाण उसमें भी अलौकिक वस्तुके ज्ञापक. इनका प्रमाण होना स्वत:सिद्ध होता है"** (त.दी.नि.प्र.१।७)यह पुन: अर्धजरतीयन्यायेन स्वत:प्रामाण्यवाद स्वीकार लिया गया है. ब्रह्मतादात्म्यका भान भी पूर्ण और अपूर्ण बोधके प्रभेदवश द्विविध परोक्ष होता है. इसी तरह अक्षरब्रह्मज्ञान और परब्रह्मपुरुषोत्तमभक्ति के प्रभेदवश अपरोक्ष ब्रह्मतादात्म्यज्ञान भी द्विविध होता है. अत: शाब्दिक अपूर्ण परोक्ष भानकी अवस्थामें महाप्रभु कहते हैं **"कहीं संवाद और कहीं विरोध दोनों प्रतीत होते हों तो अप्रमाण ही मान कर चलना चाहिये यह 'इससे विरुद्ध जो भी हो उसे कथमपि प्रमाण नहीं मानना चाहिये"** (त.दी.नि.प्र.१।८) पूर्ण परोक्ष शाब्दिक ज्ञान सिद्ध होनेपर महाप्रभु कहते हैं **"वाणीमात्र प्रमारूप बोधकी जनक होती है क्योंकि बाह्यार्थ सारा भगवद्रूप होता है. रूपलीलाकी तरह नामलीलाके विभेदोंका प्रतिपादन तो करना ही है"** (त.दी.नि.प.१।९) ब्रह्मतादात्म्यकी साक्षाद् अनुभूति होनेपर कोई भी अनुभूति या उसे शब्दायित करनेवाली पदराशी अप्रमा नहीं रह जाती है क्योंकि **"बाह्यार्थोंके निमित्तवशात् पदोंमें प्रतीत होते प्रामाण्याधायक गुणधर्म आकांक्षा योग्यता और संनिधि तो लोकदृष्टिसे कल्पित हैं अत: सारे सर्वब्रह्मतादात्म्य जहां अनुभूत होने लगा वहां सारे उद्देश्यविधेयभावात्मक वाक्य प्रमाण ही बन जाते हैं. ब्रह्मकी तरह बृहती=वाणी भी विश्वतोमुखी होती है"** (त.दी.नि.प्र.२।१७३). दूसरे शब्दोंमें कहें तो ज्ञानप्रामाण्यवादमें जैसे आईन्स्टीन किसी एक आधारके साथ प्रतिबद्ध नहीं होते सो महाप्रभु भी ऐसी अपनी अप्रतिबद्धता कहो या सापेक्षवादानुरोधी प्रामाण्यवाद स्वीकारे हुवे हैं.

ब्रह्माण्डके रहस्योंको उद्घाटित करना हो तो कोई भी एक वाद पर्याप्त नहीं हो पाता, यही तो है : अनुभवगम्य पदार्थकी अनुभवातीतता. यह वैज्ञानिकोंको ब्रह्माण्डके चिन्तनमें विनीत मनोभावसे अपने प्रमेयके निरीक्षण-परीक्षणका पाठ पढ़ाती है. जैसे ब्रह्मके चिन्तनमें निरत ब्रह्मवादियोंको

''कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना अहंकारं न कुर्वीत'' (त.दी.नि,२।२४१) महाप्रभु भी कहते हैं. एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादन करते होनेके कारण परस्पर अंगांगिभावसे समन्वित हो जाते हैं और ब्रह्म उन सारे वादोका अनुसरण करता है(द्रष्ट.त.दी.नि.१।७ ०). न केवल इतना प्रत्युत महाप्रभुने यह भी सुस्पष्ट शब्दोंमें अंगीकार किया है कि तत्तद् इन्द्रियोंके द्वारोके प्रभेदवश अर्थ बहुत सारे परस्पर विरोधी गुणोंका एक अविरोधी आश्रय होनेपर भी नानाभावेन अवगत होता है ऐसे ही भगवान् भी अनेक शास्त्रीय वादोंसे अनुरंजित मतिसे निहारनेपर अनेकविध प्रतीत इनमें गुणोंका परस्पर विरोधी होनेके कारण विभिन्न इन्द्रियों ग्राह्य होनेपर भी एक अविरुद्ध आश्रय होनेसे परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन और अविरुद्धतया प्रतिपादन दोनों ही सत्य हो सकते हैं.

(साधनतः स्वरूपनिर्धारण)

आईन्स्टीनने धर्मकी जो तीन अवस्था आदिम मध्य और विकसित दिखलायी उनमें एन्थ्रोपोमॉर्फिक अर्थात् नराकार परमेश्वरकी धारणावाली आस्थाको आदिम अवस्था माना. इस बारेमें एक स्पष्टीकरण जान लेना आवश्यक है.

भारतीय विद्या पश्चिमी आलोचकोंके हत्थे चढ़ी तबसे हमारे आर्ष ग्रन्थोंमें वेदोंके संहिताभागको प्रकृतिपूजक बहुदेववादी, ब्राह्मणभागको कर्मकाण्डीय पौरोहित्यवादी, उपनिषदोंको ब्राह्मणोंके विरोधमें क्षत्रियोंके ब्रह्मज्ञानपरक जगत्की वास्तविकतासे विमुख करनेवाला पलायनवादी, रामायण इतिहास पुराणोंको एन्थ्रोपोमोर्फिक देववादी आदि अनेक प्रकारके निन्दार्थक विशेषणोंसे नीचे गिराया गया. जबकि एन्थ्रोपोमोर्फिक मोनोथीज़मको आईन्स्टीन धर्मकी आदिम अवस्था मान रहे हैं, हमारी मानवीय दुर्बलताओका प्रतिबिंब! यहां प्रश्न केवल नराकृति होनेमात्रमें सीमित नहीं मान लेना चाहिये अपितु मानवीय स्वभावकी दुर्बलता रागद्वेष प्रतिशोध अपराधक्षमा

आदिका भी उतना ही प्रसक्त है. अनीश्वरवादी उच्चस्तरीय नैतिक बहुजनहिताय बहुजनसुखाय जैसे मूल्योंकी प्राथमिकतावाले यहुदी आदि धर्मोंको मध्यम कक्षका मान रहे हैं. अपने यहांके धर्मोंमें जगत्को बंधनरूप मान कर मुक्त होनेवाले महापुरुषोंको भगवान माना गया है. उत्तम कक्षाके धर्मतया, आईन्स्टीन, जगद्व्यापिनी संवादितामें भगवदभिव्यक्तिको मान्य करनेवाले धर्मको प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं.

प्राचीन यूनानी दार्शनिक ज़ेनोफनके विधान कि घोड़ा यदि परमेश्वरकी मूर्ति गढ़ पाता तो वह मूर्ति अश्वाकारक होती. मनुष्य मूर्तिकारोंने परमेश्वरको नराकार अतएव गढ़ा. यह विधान जिन पर लागू होता हो हो जाये, हमारी श्रुति स्मृति पुराण की ईश्वरसम्बन्धी अवधारणाका इससे कुछ भी लेना-देना नहीं मानना चाहिये था. क्योंकि यदि हमारी श्रौतदृष्टि **''तुम ब्रह्मा तुम ही विष्णु तुम रुद्र तुम प्रजापति तुम अग्नि वरुण वायु हो तुम इन्द्र तुम चन्द्र हो तुम अन्न हो तुम यम पृथिवी तुम विश्व और आकाश भी हो...''** (मैत्रा.उप.५।१), **''आकाशमें प्रकाशमान ज्योतिष्पिण्ड विष्णु है, सारे भुवन विष्णु हैं, सारे वन विष्णु है, पर्वतें और दिशायें भी, नदियां और समुद्र भी वही विष्णु हैं, जो कुछ है या जो कुछ नहीं सभी कुछ ये ज्ञानस्वरूप भगवान्की ही अशेष मूर्तियां हैं. अतः कोई भी पर्वत समुद्र या पृथिवी के प्रभेद स्वयं वस्तुभूत न हो कर भगवज्ज्ञानकी विविधता हैं (** न कि अनादि अज्ञान या जीवके अज्ञान से प्रतिभास्य'' (विष्णुपु.१२।३७-३८) **''मत्स्य अश्व कच्छप नृसिंह वराह हंस राजन्य विप्र विबुध आदि अनेक रूपोंमें भगवान् अवतीर्ण होते हैं''** (भाग.पुरा.१०।२।४०).

इस तरहकी हमारी श्रौत पौराणिक आर्ष धारणाको शब्दायित कर पानेमें पाश्चात्य 'मोनोथीज़म' 'पोलीथीज़म' 'पॅन्थीज़म' 'एन्थ्रोपोमोर्फीज़म' 'पॅगानीज़म' आदि विविध पदावली केवल वाग्विलास मात्र लगती हैं! क्योंकि वैश्विक अनेकताकी जटिलतामें विवक्षित एक ब्राह्मिक

सुसंवादिता इनमें प्रकट नहीं हो पाती है.

सो ब्रह्मके इतने वैविध्यपूर्ण स्वरूपके अनुसंधानमें प्रकट हुयी धर्मसाधनाके बारेमें यह उल्लेखनीय हो जाता है कि यज्ञकुण्डमें आहित अग्निके माध्यमसे धर्माराधना करते समय अग्निको हम केवल 'फायरगॉड' नहीं मानते प्रत्युत **''अग्नि जो पुरोहित भी है और यज्ञका देवता भी ऋत्विक् भी है और होता भी'',''तुम अग्नि! द्युलोकमें प्रज्वलित होते हो तुम जलमेंसे तुम पाषाणमेंसे तुम वनोमेंसे ओषधियोंमेंसे भी''** (ऋक्संहि.१।१।१, २।५।१७) यज्ञवेदीमें आहित अग्निकी ऐसी सर्वसंवादिता ही देखी गयी है. पाषाण या धातु की मूर्तियोंमें भी प्राणप्रतिष्ठाके अनुष्ठानमें पुरुषसूक्तोक्त ब्रह्माण्डमूर्तिताका आह्वान किया जाता है. वह तो सेनेगॉग या चर्च या मस्जिद के भीतर भी की जाती भगवान् की प्रार्थनासे किस अर्थमें भिन्न हो सकता है? यही कथा पर्वत नदी वृक्ष पशु पक्षी के पूजाविधानमें भी देखी जा सकती है. योगध्यानकी आत्मकेन्द्रित साधनामें भी आत्माको भी **''जो इस तरह जान पाता है कि मैं ब्रह्म हूं वह सब कुछ बन जाता है''** (बृह.उप.१।४।१०) गुरुपूजनमें भी ''गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुदेवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म'' कौन नहीं जानता.

अतः आईन्स्टीनके द्वारा निर्धारित आदिम कोटिके धर्मके रूपमें अपनी आत्मजुगुप्साका कोई कारण हमारेलिये नहीं होना चाहिये. जब अनेक देवोंकी आराधना और सम्प्रदायकी बात करते हैं तब भी हम इस वेदके विधानकी अवहेलना या उल्लंघन करके नहीं कि **''जहां सारे लोक सारे कोश सारी जलराशी ब्रह्मजनोंको जान पड़ती है जहां असत् और सत्... ऋत और श्रद्धा ... जहां अमृत और मृत्यु समाहित हैं... जहां तैंतीस देवगण अंगोंमें विभक्त हैं उन तैंतीस देवोंके ब्रह्मविद तो एक ब्रह्म ही मानते हैं''** (अथर्वसहहि.१०।७।१०-२७). अतः इन ब्रह्मात्मक देवताओंकी आराधनाके हेतु कर्म ज्ञान भक्ति

तप योग ध्यान अर्चन नामसंकीर्तन तीर्थयात्रा त्याग-संन्यास रूपी अनेकविध धर्मसाधनाकी बात तो जाने दो भगवान् श्रीकृष्ण तो **''प्राणियोंकी प्रवृत्ति जहांसे आरब्ध होती है जहां यह सब कुछ वितत है उसकी अपने कर्मोंके निर्वाहसे अर्चना करो सिद्धि मिलती है''** (भग.गीता.१८।४६) करते हैं. वैसे तो धार्मिक अनुष्ठान भी ब्राह्मिक आस्थासे रहित हो धर्मरूप नहीं रह जाते और ब्राह्मिक आस्थासे स्वस्थ होनेपर तो भगवान् कहते हैं अपने सामाजिक उत्तरदायित्वोंका निर्वाह भी भगवत्पूजनके भावसे अनुष्ठित होनेपर सिद्धिप्रद होता है. अतः आईन्स्टीन अपने-आपको **"I am deeply religious nonbeliver... This is somewhat new kind of religion"(In letter to Hans Muchsam March 30 1954 on page 218 of Expanded Quotables Einstien).** कहते हों तो किन्ही और धर्मसम्प्रदायोंको आघातजनक धर्मविरुद्ध विधान लगता होगा पर भगवान श्रीकृष्णको तो कदापि नहीं लगेगा.

अविश्वासके भी तो अनेक प्रकार हो सकते हैं : अज्ञानमूलक स्नेहमूलक ईर्ष्यामूलक विस्मयमूलक श्रद्धामूलक अश्रद्धामूलक इत्यादि. सभी अविश्वास अधर्मरूप नहीं होते. अविश्वास तो स्वयं वेद-उपनिषद् भी प्रकट करते हैं **''कौन जानता है और कौन समझा सकता है कि यह विसृष्टि कहांसे आती है और कहां जाती है जो देवगण इसके प्रकट होनेके बाद प्रकटे वे भी कैसे जान पायेंगे कि कैसे प्रकट हुयी. यह विसृष्टि जहांसे आती है कोई इसे धारण कर लाता है या नहीं जो इसका परम व्योममें अध्यक्ष अरे उसे भी पता चलता है कि नहीं''**(ऋक्संहि.१०।१२९।६-७). **''तुम स्त्री हो या पुरुष हो तुम कुमार हो या वा कुमारी. तुम बुढ़े बन कर दंडा ले कर चलते दीखते वंचना तो नहीं कर रहे हो न क्योंकि तुम्ही तो सब कुछ हो''** (श्वेता.उप.४।३)

समग्र ब्रह्माण्ड, वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, कृष्णका श्रीविग्रह

है. भगवान्ने ऐसा अपना विराट् स्वरूप अर्जुन और यशोदा दोनोंको दिखाया है. कृष्णात्मक ब्रह्माण्डको समझनेके लिये कृष्णका ब्राह्मिक माहात्म्य समझना जरूरी है. माहात्म्य समझके कृष्णके शरणागत होना है. यह शरणागति पराजित पुरुषकी विवशताकी जैसी नहीं और न किसी लालचीकी लालसाभरी शरणागति है. किसी भीति या निराश के कारण भीतिसे त्राण या आशापूर्ति के हेतु यह शरणागति नहीं है. गृहवाचक जो 'शरण'पद है उसके अर्थानुरोधवश खुदके घरमें निरूढ़ स्नेहभावसे या ममताके भावसे लौटनेकी यह प्रक्रिया है. शरण+आगति है. शरणागत होकर जो अपना प्रिय है उसके साथ प्रेमभाव निभानेकी शरणागति है.

स्नेह क्यों करना है? स्नेह ही एक ऐसा फिनोमिना है जो सब भयसे मुक्त कर देता है. समझ कितनी भी हो पर उससे भयमुक्त नहीं हो सकतें. मैं घरमें सबसे तुफानी था. उसके कारण मेरी मां मुझे अन्धेरी कोठडीमें पूर देती थी. आज मैं ७५ सालका हो गया तब भी मुझे अन्धेरेसे डर लगता है. समझसे भय जाता नहीं है. पर यदि मैं अन्धेरेके साथ स्नेह करने लग जाउं तो डर टिक भी नहीं पायेगा. पानीमें जानेवालेके लिये शार्क व्हेल जैसे जलचरका भय सहज होता है. फिरभी वे लोग वहां जाते हैं वो प्रेम/स्नेहके कारण जाते हैं.

मैं अभी एक पुस्तक पढ़ रहा हूं 'Does octopus has soul or not' ऑक्टोपस्का अभ्यास करनेके लिये लेखिका जहां ऑक्टोपस् रहते थे वहां गयी. पहले तो वो वहां खड़ी हो कर ऑक्टोपस्को स्नेहसे देखने लगी, जिससे ऑक्टोपस् मुझसे डरे नहीं और मेरा डर भी दूर भी हो जाय. ऑक्टोपस् भी उसको देखता रहा कई दिनों तक. बादमें लेखिकाने धीरेसे पानीमें अपना हाथ ऑक्टोपस्को दिया. हाथ देते ही उसने हाथ खींचना शुरु किया. सामान्य रीतसे

ऑक्टोपस्के दंशसे इन्सान पांच मिनिट्में मर जाता है. वो डर गई पर बादमें उसको समझमें आ गया कि ऑक्टोपस् उसको मारना नहीं चाह रहा है किन्तु वो ये देखना चाहता था कि इतने समयसे मैं उसको क्यों देख रही हूं? मैं ऑक्टोपस्को क्यों चाह रही हूं? लेखिकाके जब हाथ खींचनेका शुरु किया तो हाथ खींचने पर भी ऑक्टोपस्ने कोई रिएक्शन् दिखाया नहीं. ऑक्टोपस् जिनको स्नेह करने लगता है उनको दंश नहीं देता है. वो अपने शरीरसे ही हमारे भावोंको जान लेता है. उसके अलगावसे वो रोने लगी. क्या हम ऐसे सोच सकते है?

इसलिये ज्ञानसे हम निर्भय नहीं हो सकते किन्तु प्रेमसे हम निर्भय हो सकते है. यदि ऑक्टोपस्की शरीररचनाको देखें तो हमें उनके पास जानेमें घिन आती है. फिर भी स्नेह ऐसा पदार्थ है कि अरुचिकर ऐसे ऑक्टोपस्को उसने प्रेम करना शुरु किया. ऐसा कैसे सम्भव हुआ? क्योंकि दोनोंने एक-दूसरेके प्रति शरणागतिकी भावना व्यक्त की. **''सारे धर्मोंका त्याग कर एक मात्र मेरे शरण ग्रहण करो मैं तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त करूंगा शोक मत करो''** (भग.गीता.१८।६६) भगवद्गीताकी इस बातसे हम समझ सकतें हैं कि कितने भी हिंसक प्राणीके साथ स्नेहसे कितना मैत्रीपूर्ण व्यवहार हो सकता है. मैंने ये पुस्तक पढ़ी और बात समझमें भी आयी किन्तु ऑक्टोपस्के बारेमें मेरे मनमेंसे भयकी निवृत्ति नहीं हुई है. इसलिये ब्रह्माण्डके समक्ष हमें शरणागत ही केवल नही होना है, उसे चाहना भी है. जिस दिन हम ब्रह्माण्डको चाहने लगेंगे उस दिनसे ब्रह्माण्ड हमको चाहने लगेगा. ये साधनाके बारेमें मूलभूत सिद्धान्त है, श्रीवल्लभाचार्यके. आईन्स्टीन भी इसे कैसे इन्कारेंगे !

(फलतः स्वरूपनिर्धारण)

महाप्रभुकी फलसम्बन्धी अवधारणाका प्रमुख बिन्दु यों है :

''साधारण लोकमें भगवान्‌की इच्छासे फल नियत होते हैं, वैदिक कर्मोंके फल वेदोंमें निरूपित हैं. भगवान्‌के अपने स्वरूपसे पुष्टिजीवोके फल नियत होते हैं. सृष्टिगत भिन्नताके अनुरूप फलोंकी नियतिमें भी भगवदिच्छा ही नियामक होती है... वैसे फल तो भगवान् जैसे भी स्वयं प्रकट हो कर या अपने गुणोंको भूतलपर पर प्रकट करना चाहें भगवान् ही ही होते हैं. पुष्टिजीवोंके लिये तो वही फलरूप होता है.'' ''फल स्वयं जहां साधन बन जाता हो उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं''.

(पु.प्र.म.१०-१६, पुष्टिमार्गलक्ष.१)

अर्थात् समग्र सृष्टि ब्रह्मात्मिका लीला होनेके कारण प्रमाण प्रमेय साधन और फल के विविध रूपोंमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही लीलार्थ विविध रूप धारण करता है. ब्रह्मके अन्यतम प्राकृत अचेतन रूप अहंकारके साथ ब्रह्मांशभूत जीवचेतनाको योजित किया गया होनेके कारण, उसमें स्वतन्त्र प्रमाता और स्वतन्त्र साधक होनेका भाव इतना प्रबल हो जाता है कि ब्रह्मतादात्म्य सहसा लक्ष्यमें नहीं आ पाता. इस अहंकाररूप आन्तरिक करणके आधीन उत्पन्न होते भान या प्रत्यय के भास्य या प्रत्याय्य-अर्थ स्थूलविषय ही बन पाते हैं. अहंकारास्पद देह इन्द्रिय प्राण या अन्तःकरण के भी घटक सूक्ष्मतर तत्त्व भी नहीं. अतः सूक्ष्मतम ब्रह्मतादात्म्यका बोध अप्रासंगिक हो जाता है.

अतः प्रमाण-प्रमेयके तथा साधन-फल की व्यवस्थाके भीतर काम करती ब्राह्मिक नियति भी सहसा अनुभवगोचर नहीं हो पाती. औपाधिक ज्ञातृभाव तथा कर्तृभाव के व्यामोहवश भासित होता स्वातन्त्र्य और ममतामूलक भोक्तृभावजन्य व्यामोह परस्पर द्विगुणित हो जाते हैं. तब प्रमाणव्यापार और साधनव्यापार के अनियत होनेकी भ्रमणाके वश उसे स्वेच्छया नियत कर पानेके आत्मविश्वास तथा महत्त्वाकांक्षा भी उभरने

लगते हैं. यह स्वातन्त्र्य परन्तु भगवद्गीताके अनुसार केवल बीस प्रतिशत ही होता है :

''अधिष्ठानरूप देह, अहंकारोपहित चेतनरूप कर्ता, दस कर्मज्ञानेन्द्रियरूप पृथक्‌विध करण, बाह्य परिवेशमें निरन्तर चलती विविध पृथक्चेष्टा और दैव पांचमा. शरीर वाणी और मन से जो कर्म प्रारम्भ होते हैं न्याय्य हों या अन्याय्य हों ये पांच तत्त्व हेतु बनते हैं. इन पांच तत्त्वोंके रहते जो केवल अकेले अपनेको कर्ता मान कर चलता वह दुर्मति बुद्धिका प्रयोग न कर पानेसे कुछ भी देख नहीं पाता.''

(भग.गीता.१८।१४-१६),

अस्सी प्रतिशत नियतिमें एक पञ्चमांश बीस प्रतिशत अनियति भी नियत की गयी है!

यह तथ्य महाप्रभुद्वारा प्रतिपादित सृष्टिकी चतुर्विधा नियति प्रवाह मर्यादा पुष्टि और चर्षिणी जीवात्माओंके पृथक्पृथक् सर्ग मार्ग साधन और फल की अस्सी प्रतिशत नियतिमें भी बीस प्रतिशत अनियतिकी नियति भी मान्य रख कर वाल्लभ वेदान्त चलता है. इसकी तुलना आईन्स्टीनके नियतिवादके साथ करनेपर ही फलके दृष्टिकोणसे विमर्श यथोचित हो पायेगा.

इस सन्दर्भमें आइन्स्टीन समझाते हैं "Human being in their thinking, feeling and acting are not free agents but are as causally bound as the star in their motion" (स्पिनोज़ा सोसायटी ऑफ अमरीकामें सितम्बर २२, १९३२ दिया गया वक्तव्य). अर्थात् हमारे क्रिया भाव और विचार में हमको अहंकार हो गया

है कि हम स्वतन्त्र है, वस्तुत: ऐसी बात नहीं है. जैसे चन्द्र और सूर्य लॉ ऑफ़ ग्रेविटेशन्के आधारपे चल रहे हैं. ऐसे हमारे भीतर भी कोई लॉ ऑफ़ एक्शन् काम कर रहा है. वह फिज़ीकल् (भौतिक) हों, सायकॉलॉजिकल् (मानसिक) हों, बायोलॉजिकल् (जैविक) हों. बायोलॉजिकल् भी न होके वो सोशियल् भी हो सकता है. पर ये निश्चित है कि हमारे व्यवहारमें तथाकथित इच्छास्वातन्त्र्य और कर्मस्वातन्त्र्य निरपवादतया अपराधीन नहीं. विशेषत: अधुनातन मायक्रोबायोलोजी जेनेटिक्स और ब्रैनमेपिंग में हुवे अनुसंधानोंने तो बहोत सारे चेतनाके गुणधर्म माने जाते राग द्वेष भय श्रद्धा आदिके कॅमिकल कम्पोनेन्टस् खोज लिये हैं. इन्हें घटा या बढ़ा कर कॅमिकली कन्ट्रोल भी किया जा सकता है. उपनिषदोंने तो यह तथ्य **''कामना संकल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य अधैर्य लज्जा बुद्धि भीति ये सभी कुछ हमारा मन ही तो बनता है''** (बृह.उप.१।५।३) कह कर बहोत पहले ही यह रहस्य उद्घाटित कर रखा था. ये सारे मानसिक क्रियाकलाप अयोगोलकन्यायेन चेतनावेशके वशात् मनके ही हैं स्वयं चेतनाके नहीं. ऐसी स्थितिमें इन मानसिक क्रियाकलापोंकी अचेतनके प्रकृतिके नियमोंके अनुसार काम करनेकी नियतिकी अवधारणा वेदान्तमें तो प्रश्नार्ह नहीं मानी ही नहीं जा सकती. दैनन्दिन अनुष्ठेय सन्ध्यानुष्ठानके मन्त्रमें अतएव **''कामने किया मैं कर्ता नहीं हूं काम करता है मैं कुछ भी करता नहीं हूं, इस कामकी आहुति मैं कामके लिये प्रदान करता हुं, क्रोधने किया मैनें नहीं किया न करता हूं क्रोध ही कर्ता है मैं कहां कर्ता हूं. इस क्रोधकी आहुति मैं क्रोधको प्रदान करता हूं''** (महाना.१८।२-३) ऐसी विलक्षण भावनाका उपदेश दिया है. अचेतन मनमें प्रकट होनेवाली क्रियाओंको अपना स्वभाव माननेके बजाय पुन: इन मनोजात क्रियाकलापोंको मनको ही सोंप देनेकी प्रेरणा उपनिषद् प्रदान करते हैं. स्पिनोज़ाका, अतएव, एक महत्त्वपूर्ण विधान इस सन्दर्भ यों मिलता है कि पहाड़परसे लुढ़कते पत्थरमें यदि चेतना होती तो वह गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तको स्वीकारनेके बजाय स्वयंकी नीचे लुढ़कनेकी इच्छाके कारण लुढ़क

रहा है, ऐसा इच्छास्वातन्त्र्य घोषित करता!

यही बात महाप्रभु कहतें हैं कि भक्ति भी हम कर रहें हैं ऐसा हम जो सोचते हैं पर वस्तुत: हम नहीं कर रहें हैं. वह भगवान्की पुष्टि है जो हमारी चेतनामें हमें भक्तिके रूपमें भासित होती है. भगवान्की पुष्टि न हो तो हम भक्ति कर नहीं पायेंगे. इसे भक्तिका 'बीजभाव' कहा जाता है (द्रष्ट.भक्तिवर्धिनी १) जो हमारे भीतर भगवान्के प्रति रुचिके रूपमें अन्तर्भासित होता है. अन्यथा भगवान्में रुचि हो नहीं सकती.

हमने देखा कि वैसे तो अहंकार भी बहोत सुंदर भगवत्प्रदत्त वरदान है. इस अहंकारका सदुपयोग दुरुपयोग और अनुपयोग तीनों हम अपनी बीस प्रतिशत स्वातन्त्र्यसे कर सकतें हैं. पर मनुष्यके साथ ये करुणाजनक है कि तथ्य है कि अहंकारके सदुपयोगके बजाय उसका दुरुपयोग ज्यादा हो जाता है. वर्षाकी बूंद जितनी हमारी सेल्फ-अवेयर्नेस्के आधारपर पूरे ब्रह्माण्डकी अवेयर्नेस् भी हम हमारे भीतर जगा सकते हैं. अपने अहंकारका सदुपयोग भी तो यही है. ऐसे अहंकारका यदि दुरुपयोग करते हैं तो भगवान् भी यही कहेगें **''जिस अहंकारका सहारा लेकर युद्ध नहीं करूंगा मान बैठे हो वह निश्चय सच्चा नहीं है क्योंकि तुम्हारी प्रकृति वह तुमसे हठात् करवा लेगी''** (भग.गीता.१८।५९), तुम्हारी समझसे ''युद्ध नहीं करुंगा'' ऐसी निरर्थक बात करना योग्य नहीं है. यदि कोई आके विपरीत वर्तन/व्यवहार करता है तो युद्ध करनेके लिये तत्पर होना ही पड़ेगा. तुम्हारे सामने विपरीत स्थिति आयी नहीं है इसलिये तुम ज्ञान और वैराग्य की बात कर रहे हो.

ये अहंकार बहोत ही डॅलिकेट् और डायनॅमिक् होते हुए भी थोड़ा भी स्वरूपेण विकृत होनेपर ज्ञानी और वैरागी को भी अपने

दुरुपयोग करनेपर आमादा कर सकता है. इतने कीमती अहंकारका अनुपयोग तो होना नहीं चाहिये.

अहंकारका सदुपयोग भगवान्‌के प्रति शरणागतिसे हो सकता है. यदि भगवान्‌में न मानते हो तो ब्रह्माण्डके प्रति शरणागतिका भाव रखना भी अहंकारका सदुपयोग है. आईन्स्टीन भी अपने प्रमेयके अनुसारिणी दृष्टिसे समझा रहे हैं : "I know that philosophically murderer is not responsible for his crime, but i prefer not to take tea with him." (वाल्तेअर ईसाक्सन द्वारा उद्धृत : 'आईन्स्टीनकी जीवनी और युनिवर्स'में).

अर्थात् मैं इस बातको अच्छी तरहसे जानता हूं कि दार्शनिक दृष्टिसे खूनीको अपराधका उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, फिरभी यदि कोई मुझे उसके साथ बैठकर चाय पीनेकी कहे तो मैं पीना नहीं चाहूंगा. यह सम्भवतः हमारे गीतोक्त बीस प्रतिशत स्वातन्त्र्यका ही शब्दान्तरमें अंगीकार है ऐसे मानना चाहिये.

यह सिद्धान्त महाप्रभु जीवात्माके बारेमें पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा वर्ग भगवान्‌के बनाया हुवा कह जताते हैं. उसका मतलब ये नहीं होता कि हम प्रवाहमार्गी व्यवहार करके उसे अपने बारेमें भगवदिच्छा कह कर बिरदायें. भगवान्‌ने अपनी वाणीसे मर्यादामार्ग, मनसे प्रवाहमार्ग और स्वरूपसे पुष्टिमार्ग प्रकट किया है. उस बातको ले कर हम यह नहीं कह सकते कि हमारे अच्छे कर्म या बुरे कर्म के लिये हम विश्वके मंचपर हमारा बीस प्रतिशत भी स्वातन्त्र्य नहीं है. अपनी अहन्ता-ममताके आवेशवश जब हम अपने इर्दगिर्द अनुभूत होती त्वन्ता और इदन्ता के प्रति उत्तरदायित्वको न निभाते हों तो ऐसे अनुत्तरदायित्वसे पहले अपनी अहन्ता-ममतासे मुक्त हो कर दिखाना पड़ेगा. जब हम पहले स्वयं अपनी अहन्ता-ममतासे मुक्त हो पायें चाहे तो ब्रह्मज्ञान,

या भगवद्भक्ति, या विषयवैराग्य; अथवा, यौगिक साधनासे लभ्य आत्मस्वरूपमें संस्थिति के द्वारा तब हमें त्वन्ता या तत्ता से पृथक् अपनी पहचान ही न रह जायेगी और न किसीके प्रति उत्तरदायित्व ही. यह बात महाप्रभुके शब्दोंमें समझनी हो तो **"यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः"** (त.दी.नि.१।६९) अर्थ : जहां, जो, जिसके द्वारा, जिस लिये, जिस प्रकारसे हो रहा है वह सब ब्रह्म ही है. ब्रह्म ही प्रधान (मॅटर्) पुरुष (माइन्ड्) और ईश्वर (गॉड्) बनता है. इसलिये वही सब कुछ बना है. यदि तुम साधु या असाधु कर्म कर रहे हो तो वही तुमसे करवा रहा है अस्सी प्रतिशत यह लीलाभाव भी होना चाहिये और बीस प्रतिशत भगवत्प्रदत्त अहंकारके सदुपयोगकी निष्ठासे मुझे असाधु कर्मोंके प्रवाहमें बह जानेसे अपने-आपको बचानेका भी सदाशय होना चाहिये.

एक बात समझ लो, यदि दिल्ही जाना है तो तुम जैन मुनि तो नहीं हो कि पैदल चलके पहोंच पाओगे. तुम्हें रेल्वे हवाईजहाज या बस में ही सवार होना पड़ेगा. यदि तुम सवार नहीं होते हो तो ट्रैन हवाईजहाज या बस तुम्हारा अपहरण तो करनेके लिये नहीं आयेंगे. यातायातकी व्यवस्था ही तुम्हें दिल्ही पहोंचायेगी, यदि तुम सवार हुए तो! दिल्ही पहोंचनेपर "मैं पहोंच गया" ये अपना अहंकार बोल रहा है. वस्तुतः तो यातायातकी व्यवस्थाके कारण पहोंचाया गया है, इस बातको भूल नहीं जाना चाहिये.

हमारी बुद्धिमें प्रकट होते ब्लॉक्‌के कारण हमको विज्ञान और धर्म एक बिन्दुपर जुड़ते नहीं दीखते है. दोनोंके प्रमेयके विमर्शसे, किन्तु, यह समझा सकता है कितनी बार विज्ञान और धर्म किसी एक बिन्दुपर जुड़ भी जातें हैं. इसी आधारपर महाप्रभु और आइन्स्टीन् के दर्शनमें कैसी समानता है ये हम समझनेका प्रयास किया.

एक बन्दरपनेके कारण हमने धर्मका स्वरूप भी यही समझ रखा है कि कि यदि मैं खिड़कीसे अन्दर घुसूंगा तो पकड़ा जाऊंगा. यदि नहीं घुसा तो वहांकी वस्तु उठा कैसे पाऊंगा? अब बन्दर क्या करता है कि खिड़कीमेंसे हाथ पहोंचे उतनी वस्तुओंको ले कर बाकी वस्तुओंको छोड़ देता है!

धर्ममें भी हमारे बन्दरपनेका व्यवहार हम निभाते हैं, न धर्मका अच्छी तरहसे अनुसरण करतें है और न अधर्मका. यदि धर्म या अधर्म तक हाथ पहोंचता है तो उन्हें छोड़ना नहीं है और यदि नहीं हाथ पहोंचता तो त्याग तो करना ही है. भगवान् अपने इस बन्दरपना रॅलिश् नहीं करते है. भागवतमें आता है **''मर्त्य मनुष्य मृत्युके नागसे डर कर दौड़ता हुवा सारे लोकोंके चक्कर मारता रहता है पर निर्भय हो नहीं पाता कभी भगवच्चरण अर्थात् ब्रह्मभावात्मक अक्षरब्रह्मके रूपमें अपने मूल स्वरूपको पहचान पाये तो उसे मृत्यु नहीं अपनी चेतनामें जब-तब स्वस्थ निद्राकी तरह आती मृत्यु लगेगी''** (भाग.पुरा.१०।३।२७). जिन्होंने अच्छे काम किये हो उनके लिये मृत्यु धर्मराजका बुलावा है. हमें इस बातसे आश्वस्त रहना है कि धर्मराज स्वयंके धर्मका निर्वाह आज नहीं तो कल करेगा सो हमें हमारे धर्मका निर्वाह करना चाहिये. ऐसी निर्भयता हमें धर्मसे मिलनी चाहिये जिसको आइन्स्टीन् साधनके रूपमें स्वीकारते हैं. अन्यथा मृत्युका देवता धर्मराज होनेके बजाय यमराज लगेगा!

यह अक्षरब्रह्मके पांच पहलु काल (time) कर्म (kinetic energy/action) स्वभाव (static enedrgy) प्रकृति (matter/mass) पुरुष (consiousness) की एक सिस्टम् है. इसमें अपने-आप सब कुछ अस्सी प्रतिशत हो रहा है या बीस प्रतिशत कुछ हम कर पाते हैं. सिस्टम्-प्रोवाइडर् ब्रह्म है और हम तो सिस्टम्-यूज़र् हैं. मोबाइल् हम नहीं बनाते, हम मोबाइल्के यूज़र् हैं. ऐसे ही काल कर्म स्वभाव

प्रकृति पुरुष की व्यवस्था बनानेके अर्थमें ब्रह्म कारयिता है और हम कर्ता हैं. जैसे हम मोबाइल् यूज़र् हैं तो उसमें आते अनावश्यक डेटाको डिलीट् करना टाईम टु टाईम चार्ज करते रहना, जिस एप्लीकेशनका काम हो उसके बटन दबाना आदि-आदि अपना उत्तरदायित्व है. नहीं तो मोबाइल् निरुपयोगी बन सकता है.

अणुभाष्यकार कहते हैं :

''मूलतः कर्तृत्व तो ब्रह्मगत ही होता है. ब्रह्मके सम्बन्धवश वह अन्यत्र जीवात्माके भीतर भी संक्रात हो पाता है, ऐश्वयादि गुणधर्मों तरह. क्योंकि सभी जीवात्मसमुदाय ब्रह्मके विविध अंशभूत हैं. नतु पाञ्चभौतिक जड़रूप नहीं पर सच्चिदानन्दके सदंशभूत अहंकारके जीवचेतनामें संक्रान्त होनेके कारण... उपनिषदोंमें कर्ता-कारयिता होना तो ब्रह्मका ही प्रतिपादित हुवा है... लौकिक क्रियाओंमें उसके कर्ता होनेकी कथा दोषरूप होती यदि किसी एक जीवात्माके कर्ममें उसका कर्तृत्व कहा गया होता तो... प्रयत्नका स्वातन्त्र्य (उक्त बीस प्रतिशत स्वातन्त्र्यके न्यायानुसार) **जीवात्मचेतनाका शक्य है. बादमें तो इससे अधिक जीवात्मचेतना कुछ कर पाने सक्षम भी नहीं. अतः स्वयं भगवान् करवाते हैं... कर्म करा कर फल प्रदानमें कृत कर्मोंके सापेक्ष होते हैं, कर्म करवानेमें उसके प्रयत्नोंकी अपेक्षा रखते हैं, प्रयत्नमें जीवात्माके भीतर उभरी कामनाओंकी अपेक्षा रहती है, कामनायें सृष्टिप्रवाह चतुरस्स प्रभावोंसे उभरती हैं सो प्रवाहके प्रकारोंकी अपेक्षा रहती है. उस प्रवाहसे उबरनेके लिये तटबन्धके जैसी मर्यादा वेदादि शास्त्रों द्वारा निर्धारित की गयी हैं. अतः ब्रह्मको ब्रह्मको सर्वकर्ता माननेमें कोई दोषकी गन्ध नहीं है और न**

एतावता उसके निरंकुश ऐश्वर्यमें कोई न्यूनता प्रकट होती है. जीवात्माकी सदसद्गति दिखलानेवाली मर्यादा भी भगवान्निधारित ही हैं. इन मर्यादाओंका बन्धन जीवात्माओंके लिये होता है परमात्माके लिये नहीं अपनी पुष्टिकी सामर्थ्यसे वह इन मर्यादाओंका उल्लंघन भी कर सकता है''.

(भावानुवाद अणुभा.२।३।४१-४२).

फल कैसे प्राप्त होगा? जैसा तुमने कर्म किया होगा. कर्मकी भी एक व्यवस्था बनाई है कि कामनाके अनुरूप हम कर्म करतें हैं. कामना यदि न हो तो वैसे कर्ममें हमारा कर्ममें हमारा बीस प्रतिशत स्वातन्त्र्य जुड़ा ही नहीं. कामना कैसे होती है? जो हमारे चारों और परिवेश है या सराउंडिंग् होती है तदनुसार कामना प्रकट होने लगती है. यदि तुम पानीमें रहते हो तो पानीकी कामना होगी. जमीनपे रहते हो तो जमीनकी कामना होगी. इस तरह वह सिस्टम्-प्रोवाइडर् होनेके अर्थमें कारयिता है.

ऐसी एक बात आईन्स्टीनके द्वारा कही गयी बतायी जाती है "He has created he has degraded himself in such harmony of the interdependency of reward, action, desire, surrounding..." ( ) इसमें जो संवादिताके स्तर पर अवतीर्ण होनेकी कथा है वह सिस्टम् प्रोवाईडर्की है. महाप्रभु साधनके रूपमें यही बात समझाना चाहते हैं कि फल स्वयं हमारे पर्यावरणके अनुरोधवश प्रकट हुयी कामना प्रयत्न रूपी साधन और उनके फल की संवादिता बन गया है. सो फलं वा साधनं यत्रका समीकरण हस्तगत हो जाता है.

आईन्स्टीन कहते हैं :

"Every thing is determined, the beginning as well as the end, by the forces over which we have no control. It is determined for insects as well as for the stars. Human beings, vegetable or cosmic dust, we all dance to a mysterious tune intoned in the distance by the invisible piper."

(रोनाल्ड डब्ल्यु क्लार्क द्वारा उद्धृत 'आईन्स्टीन:द लाईफ एंड टाईम' पृ.४२२).

आदि और अन्त सभी कुछ पूर्वनिर्धारित है. ऐसी किसी शक्तिके द्वारा जिसपर हमारा कोई बस नहीं. यह कीट और तारापिण्ड की तरह मानवसमुदाय, शाकफलादि और ब्रह्माण्डीय रजोमेघों की भी स्वरूप और गति को निर्धारित करती है. हम सब नाच रहें हैं और इस नाचका संगीत कौन बजा रहा है? एक अदृश्य वेणुवादक. उसकी धुनके ऊपर हम सभी नाच रहे हैं.

हमारे यहां आश्रयके पदमें हम यह पद कहां नहीं गाते **''चरण शरण व्रजराजकुंवरके, हम विधि अविधि कछु नहीं जानत रहत भरोसे श्रीमुरलीधरके''** वह मुरली बजा रहा है और हम नाच रहें हैं, वह अदृश्य बंसीवादक है.

निष्कर्षके रूपमें आईन्स्टीन यह कहते हैं "I am deeply religious nonbeliver...this is somewhat new kind of religion." वस्तुत: पश्चिमी जगत्के लिये वस्तुत: कितनी नूतन उत्प्रेक्षा और आर्ष चिन्तनमें कितनी चिरन्तन मान्यता!

महाप्रभु भी कहते हैं कि यह सृष्टि भगवान्ने बनाई है ऐसा

जान लेनेसे कुछ लाभ नहीं परन्तु सृष्टिको लीलाके रूपमें माननेके कारण ही हम इस सृष्टिमें निर्भय रमण कर पायेंगे. क्योंकि इसे लीला माननेपर अपने-आपको थोड़ा-बहोत तो अनुकूल अपने-आपको बनाना ही पड़ेगा. अन्यथा मुरलीके धुनके साथ हमारा नृत्य विसंगत हो जायेगा! केवल कर्ता माननेपर तो जटिल प्रश्न उपस्थित होने लगेंगे कि भगवान्ने ऐसी सृष्टि क्यों बनायी? इससे बेहतर भी तो बना सकते थे! स्वयंके रमणार्थ बनायी तो हमें क्यों उसमें बलात् शिकार बनाया गया हमारे लिये बनायी तो हमारे प्रतिकुल कुछ भी होना नहीं चाहिये था. सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान-दयालु हो तो पाप दु:ख रोग प्राकृतिक उपद्रव और मृत्यु का त्रास क्यों है. असर्वज्ञ अशक्त और निष्ठुर हो तो जड़ प्रकृतिकी कल्पना ही पर्याप्त ईश्वरके होने न होने से क्या अन्तर पड़ेगा. यह विषमता माया या शैतान के कारण हो भगवान् तो सर्वशक्तिमत्ता व्यर्थ सर्वशुभता सर्वशक्तिमत्ता हो माया या शैतान को वह स्वयं क्यों निवारित नहीं कर पाता?

इस तरह हम देख सकते हैं साकारब्रह्मवाद और आईन्स्टीनके चिन्तनकी की रेखा इस बिन्दुपर आकर जुड़ जा रही हैं. किसी शायरने ठीक ही कहा है कि देखा तो मेरा साया भी मुझसे जुदा मिला सोचा तो हरेक सिम्तसे कुछ सिलसिला मिला!